हिंदी कवियों की

काव्य - साधना

(हिन्दी के प्राचीन और नवीन प्रमुख कवियों की आलोचनाएं)

प्रस्तावना-लेखक
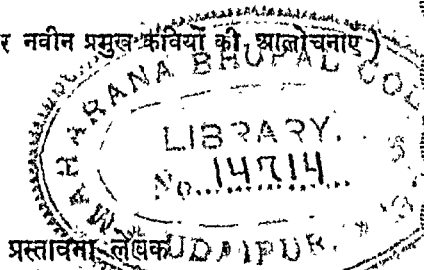
डा० भागीरथ प्रसाद मिश्र

लेखक

पं० दुर्गाशङ्कर मिश्र, 'पारिजात'

साहित्य रत्न

प्रकाशक

नवयुग ग्रन्थागार,

छितवापुर रोड, लखनऊ.

प्रकाशक
रामेश्वर तिवारी
नवयुग ग्रन्थागार,
छितवापुर रोड लखनऊ

प्रथम बार सन् १६५२ ई०
मूल्य ४॥)

मुद्रक
पं० बिहारीलाल शुक्ल
शुक्ला प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ

समर्पण

—:※:—

जिसकी कृपा से पंगु भी बड़े-से-बड़े

गिरि-गह्वरों को सरलता से

लाँघ सकते हैं।

तथा

मूक भी वाचाल हो सकते हैं।

उन्हीं

माता सरस्वती

के

चरणों में सादर समर्पित

—दुर्गाशंकर मिश्र, 'पारिजात'

विषय-सूची

निवेदन

'हिंदी कवियों की काव्य-साधना' को पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्ष और विषाद दोनों ही एक साथ हो रहे हैं। हर्ष का होना तो स्वाभाविक ही कहा जावेगा क्योंकि 'निज कवित्त केहि लागि न नीका। सरस होइ अथवा अति फीका।' परंतु इसे जिस रूप में प्रकाशित करवाने की अभिलाषा मेरी थी उस रूप में इसे प्रकाशित न होते हुए देखकर मुझे विषाद भी स्वाभाविक ही हो रहा है। दुख की बात है कि अभी अन्य कई प्राचीन और अर्वाचीन कवियों पर लिखने के लिए अवशेष ही रह गया जिन पर कि प्रकाश डालना निस्संदेह ही आवश्यकीय था साथ ही प्रकाशक महोदय की इच्छावश मुझे कई कवियों प संक्षेप में ही लिखना पड़ा। वास्तव में जिस वृहत रूप में चंदबरदा की आलोचना मैंने की थी मैं उसी शैली को आगे भी व्यवहार लाना चाहता था परंतु कुछ कारणों से संक्षेप में ही इन कवियों लिखना पड़ा यद्यपि उन पर जो कुछ मैंने लिखा है वह अपूर्ण नहीं है। मेरी अभिलाषा परिशिष्ट में संक्षेप में 'समालोचना और हिंदी में उसका क्रमिक विकास' पर भी प्रकाश डालने की थी परंतु सम के अभाववश और मेरी अस्वस्थता के फल स्वरूप मन की मन में रह गयी।

प्रस्तुत पुस्तक यद्यपि विद्यार्थियों के लिए ही लिखी गई है साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, प्रभाकर इंटर तथा विश्व विद्यालयों एम० ए० और बी० ए० आदि परीक्षाओं में उपयोगी सिद्ध सकती है परंतु मेरा विश्वास है कि अन्य हिंदी प्रेमी और हि. कार भी इससे समुचित लाभ उठा सकेंगे। पुस्तक में कहीं- साहित्यिक सिद्धांतों और वादों का भी विवेचन किया गया है

ऐसा करने में संभव है मेरे विचारों में विरोधी भावनाओं की झलक देख पड़े परंतु 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' को ही इसका कारण समझना चाहिए। साथ ही कहीं भी मैंने व्यक्ति विशेष को अपने विचारों को केंद्र नहीं बनाया है।

मैं उन समस्त लेखकों का कृतज्ञ हूँ जिनकी कि कृतियों से कुछ अवतरण आवश्यकतानुसार मैंने उद्धृत किए हैं, साथ ही उन सब लेखकों और विशेषकर उनकी कृतियों का भी मैं चिरऋणी हूँ जिन्हें के पढ़कर मैं किसी निष्कर्ष पर पहुँच चुका हूँ। कवियों की कृतियों की विवेचना करते समय मैंने सर्वथा निष्पक्ष रहने का प्रयत्न किया है और संतुलित समीक्षा शैली ही अपनाई है। बाबू श्यामसुंदरदासजी के शब्दानुसार—"साहित्य की आलोचना भी तभी वैज्ञानिक होती है जब तुलना और इतिहास के आधार पर उसकी भित्ति उठाई जाती है।" मैंने भी कहीं-कहीं तुलनात्मक आलोचना करने की चेष्टा की है पर ऐसे स्थलों की संख्या न्यून ही है। यदि प्रिय पाठकों ने अवसर दिया तो मैं उनकी सेवा में अपनी और भी अन्य कृतियाँ प्रस्तुत कर सकूँगा।

यहाँ मैं श्रीरामेश्वरजी तिवारी को भी अनेकानेक धन्यवाद देना आवश्यक समझता हूँ क्योंकि उन्हीं के प्रबल आग्रह और प्रोत्साहन देने पर प्रस्तुत पुस्तक पाठकों की सेवा में पहुँच सकी है।

पुस्तक में यत्र तत्र प्रूफ की अशुद्धियाँ रह गई हैं; इसके लिए प्रकाशक ही क्षमा याचना कर सकते हैं मैं तो केवल दुःख ही प्रगट कर सकता हूँ।

मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष,
पूर्णिमा, संवत् २००८ } दुर्गाशङ्कर मिश्र, 'पारिजात'

दो शब्द

हमें अपने प्रिय पाठकों की सेवा में 'नवयुग ग्रन्थागार' के इस नूतन प्रकाशन 'हिन्दी कवियों की काव्य-साधना' को प्रस्तुत करते हुए अतीव हर्ष हो रहा है। 'नवयुग ग्रन्थागार' का सर्वदा यही उद्देश्य रहा है कि वह उत्तमोत्तम सृजनात्मक स्थायी साहित्य को प्रकाशित करें। अभी तक हम उपन्यास, कहानी-संग्रह और कविता-संग्रहों को ही अधिकतर प्रकाशित करते रहे पर इधर कुछ वर्षों .. हमारी यह अभिलाषा थी कि साहित्य के अन्य विभिन्न अंगों की ओर भी ध्यान दिया जाय। हिंदी साहित्य में आलोचना ... का जैसा अभाव है वह तो स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो रहा है। इधर कुछ दिनों से आलोचनात्मक ग्रंथों की बाढ़ सी आ रही पर अभी भी ऐसे ग्रन्थों की संख्या न्यून ही है जिसमें ... समीक्षाशैली का अवलोकन हो सके तथा जोकि कवियों की समस्त विशेषताओं और अंतः प्रवृत्तियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ... करा सकें।

इधर इसी बीच कुछ दिनों से हम एक ऐसे ... ग्रन्थ के प्रकाशित करने की इच्छा कर रहे थे जिसमें हिंदी के सु... कवियों का शुद्ध समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया हो हमारे सौभाग्य से श्री दुर्गाशंकर जी मिश्र 'पारिजात' साहित्यरत्न ... अमूल्य सहयोग हमें प्राप्त हो गया और हमने उनसे इस प्रकार एक पुस्तक लिखने की प्रार्थना की। 'पारिजात' जी के इधर ... स्फुट लेख मासिक तथा साप्ताहिक पत्रों में प्रकाशित हुए नवम्बर १९४९ के 'विशाल भारत' के अंक में 'महाकवि ... की भाषा' तथा फरवरी १९५० की 'माधुरी' में प्रकाशित ... शतक में अलंकार व्यंजना' नामक लेखों को देखकर हमें ...सा हो गया कि 'पारिजात' जी हमारे इस उद्देश्य की पूर्ति

सकें परन्तु दुर्भाग्यवश उन दिनों वे 'पद्माकर' पर शोध कर रहे थे अतः हमें विवश हो जाना पड़ा। परन्तु कुछ महीनों के उपरांत हमने पुनः उनसे भेंट की और अपनी माँग को दुहराया तथा हमारी इच्छा आखिर पूर्ण हो ही गई।

प्रस्तुत कृति में अभी कुछ अन्य कवियों पर आलोचनाएँ लिखना अवशेष रह गया है तथा साथ ही किसी-किसी पर अत्यंत संक्षेप में ही प्रकाश डाला गया है। लेखक की इच्छा थी कि 'चंदबरदाई' के सदृश्य अन्य कवियों पर भी वृहत रूप में लिखा जाय परन्तु हमने ही उन्हें संक्षेप में लिखने के लिये कहा क्योंकि पुस्तक का कलेवर वृद्धि हो जाने का भय था। इसके लिए हमें अत्यंत खेद है।

'पारिजात' जी अभी नये लेखक ही हैं परन्तु उनकी शैली रोचक है तथा संतुलित भी। कवियों का विवेचन भी निष्पक्ष और सहानुभूतिपूर्ण है। जैसा कि पाठक स्वयं देखेंगे कि पुस्तक के आवश्यकतानुसार लेखक का विस्तृत अध्ययन भी दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि पुस्तक विद्यार्थियों और परीक्षार्थियों के लिए ही लिखी गई है पर जहाँ तक है यह साहित्यकों और हिंदी प्रेमियों को कुछ न कुछ उपयोगी अवश्य सिद्ध होगी। पाठकों ने यदि इस कृति का समादर किया तो भविष्य में हम और भी अन्य आलोचनात्मक ग्रंथों को प्रकाशित करेंगे।

हम डा० भगीरथप्रसाद मिश्र, प्रोफेसर लखनऊ विश्वविद्यालय के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने अपनी बहुमूल्य सम्मति तथा प्रस्तावना आदि लिखने का कष्ट किया है।

पुस्तक में यत्र - तत्र प्रूफ़ की अशुद्धियाँ रह गई हैं; इसके लिए में अत्यंत खेद है।

—प्रकाशक

प्रस्तावना

आज के युग में ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों को जहाँ पर नवीन, खोजपूर्ण, मौलिक और उच्चकोटि की सामग्री देने की आवश्यकता है, वहीं माध्यमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों को आलोचनात्मक सामग्री देते समय एक विशेष सतर्कता की आवश्यकता है। वह यह है कि उन्हें कोई भी कच्ची या अप्रमाणिक सामग्री न दी जाये। उनका उच्च कक्षाओं में जाने पर निजी अध्ययन इन्हीं कक्षाओं में बने संस्कारों, अभिरुचियों और प्राप्त सामग्री के आधार पर ही चलता है। अतः उन्हें जो भी सूचना, सामग्री अथवा दृष्टिकोण अध्यात्मिक कक्षाओं में दिया जाये उसका पूर्ण रीति से प्रमाणिक और ठोस होना आवश्यक है। प्रमाणिक और ठोस आधार पर ही आगे उसकी साहित्यिक प्रवृत्तियों का निर्माण किया जा सकता है।

इस बीच में विद्यार्थियों को हिन्दी के सभी महत्वपूर्ण कवियों और साहित्यकारों पर एकसाथ सामग्री देने के प्रयत्न कई व्यक्तियों द्वारा हुए हैं और उनमें कुछ के प्रयत्न उपयोगी और सराहनीय हैं। परन्तु, सभी में उपर्युक्त दृष्टिकोण व्याप्त नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक 'हिन्दी कवियों की काव्यसाधना' में लेखक का प्रयत्न बहुत कुछ इसी प्रकार का है और इस दृष्टि से यह पुस्तक माध्यमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है।

परन्तु, यहाँ यह भी कह देना मैं आवश्यक समझता हूँ कि इस पुस्तक के प्रारंभिक भाग में आये हुए कुछ प्राचीन कवियों की

आलोचना जिस विस्तार और पूर्णता के साथ की गई है उतने विस्तार और पूर्णता के साथ आगे के कुछ महत्वपूर्ण कवियों पर भी नहीं किया गया मुझे विश्वास है कि अगले संस्करण में उनपर भी अधिक सामग्री दी जायगी। साथ ही प्रत्येक कवि के अध्ययन के उपरान्त उस कवि पर कुछ अन्य पठनीय पुस्तकों की सूची भी यदि संलग्न कर दी जाय, तो विशेष अच्छा हो और पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ जाय।

इस पुस्तक में लेखक श्री दुर्गाशंकर जी मिश्र पारिजात साहित्य रत्न हैं। ये 'पारिजात' उपनाम से कविता भी करते हैं साथ ही इनके कहानी, निबंध लेख आदि भी विशालभारत, हंस, माधुरी आदि पत्रों में छपते रहते हैं। इनकी यह पहली प्रकाशित पुस्तक है। मुझे आशा है। कि हिन्दी साहित्य के भंडार को भरने में मिश्र जी आगे भी निरंतर करते रहेंगे।

निकुंज,
बनारसी बाग, लखनऊ
ता० १८-१२-५१

भगीरथ मिश्र,
एम० ए०, पी० एच० डी०
हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

चंद बरदाई

परिचय

'साहित्य समाज' का प्रतिबिंब है। प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की लोकरुचि का प्रतिबिंब होता है। जनता के जिस प्रकार के विचार होंगे, साहित्य का भी वही रूप होगा। साथ ही यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि समयानुसार जनता के विचारों में परिवर्तन भी होता रहता है। इसी प्रकार साहित्य का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहता है। जनता के विचार धार्मिक, सांप्रदायिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर रहते हैं। साहित्य के स्वरूप में जो परिवर्तन होते हैं, वे इन विचारों पर आधारित रहते हैं।

सम्राट् हर्षवर्धन (मृत्यु संवत् ७०४) के उपरांत भारत का उत्तरी-पश्चिमी भाग ही विशेष रूप से सभ्यता और बल-वैभव का केन्द्र सा हो गया था। धार्मिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि सातवीं-आठवीं शताब्दी में ही बौद्ध धर्म और जैन धर्म की अवनति आरंभ होने लगी थी तथा शनैः शनैः वैदिक धर्म की ओर जनता पुनः आकृष्ट होने लगी थी। इस समय शाक्तधर्म की भी प्रधानता हो रही थी तथा शैवावलम्बियों की संख्या में भी वृद्धि हो रही थी। चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने जो कि हर्ष के समय में भारत आया था, तत्कालीन भारतीय दशा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि गान्धार, काश्मीर तथा पंजाब से लेकर मथुरा तक हीनयान के स्थान पर महायान बौद्ध धर्म की स्थापना हो चुकी थी। श्री विंटर्निट्ज महोदय ने महायान सूत्रों में सबसे प्रख्यात 'सद्धर्म पुण्डरीक' का काल ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी को माना है।

महायान सूत्रों में गौतमबुद्ध स्वयम्भू तथा लोक रक्षक के रूप में वर्णित किए गए हैं। सातवीं तथा आठवीं शताब्दी की धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों पर विचार करने पर विदित होता है कि इस काल में जो कविताएँ लिखी गईं, वे सिद्धों की थीं। बौद्धधर्म अब विकृत होकर मंत्रयान तथा वज्रयान संप्रदाय के रूप में परिवर्तित हो रहा था। सिद्ध सहजयान संप्रदाय के अनुयायी थे। सहजयान भी मंत्रयान तथा वज्रयान की भाँति महायान की शाखा थी। हिंदी साहित्य का यह काल अपभ्रंशकाल कहलाता है। इन सिद्धों के अतिरिक्त ८०० ई० से १४०० ई० के मध्य और भी कई जैन पंडितों तथा अन्य कवियों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। सिद्धों की विचारधारा का प्रभाव हिंदी के संत कवियों पर पड़ा है। सिद्धों की विचारधारा पर हम आगे चलकर विस्तृत प्रकाश डालेंगे। धर्म संबंधी रचनाओं के अतिरिक्त हेमचंद्र, सोमप्रभ सूरि, जैनाचार्य मेरुतुंग विद्याधर, शार्ङ्गधर आदि कवियों की रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। हिंदी साहित्य के आदिकाल में इस प्रकार से अपभ्रंश रचनाओं के अतिरिक्त अन्य विषय की रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं। श्री अगरचंद नाहटा ने अपने दो लेखों 'वीर गाथा-काल का जैन भाषा-साहित्य' (नागरी प्रचारिणी पत्रिका अंक २, सं० १९९८) तथा 'वीर-गाथा काल की रचनाओं पर विचार' (नागरी प्रचारिणी पत्रिका अंक ३-४, सं० १९९९) में इस काल के साहित्य पर बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक 'हिंदी काव्य-धारा' में भी कई जैनपंडितों तथा कवियों की रचनाओं का उल्लेख है।

हर्षवर्धन के उपरान्त केन्द्रीय शक्ति का अभाव होने से सम्पूर्ण भारतवर्ष अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभाजित हो चुका था। राष्ट्रीय एकता और संगठन की भावना न होने से फूट के बीज पल्लवित हो रहे थे। साथ ही एक दूसरे के प्रति घृणा के भाव भी जाग्रत हो

रहे थे। उत्तरी भारत जो कि सभ्यता और बल वैभव का केन्द्र था, इस समय खंड-खंड होकर दिल्ली, कन्नौज, अजमेर, धार तथा कालिंजर के राज्यों में विभाजित हो चुका था। सर्वत्र राजपूतों का ही राज्य था, परंतु पारस्परिक द्वेष भावना होने से वे आपस में ही लड़ते भिड़ते थे। तोमर, राठौर, चौहान, चालुक्य और चंदेल यदि चाहते तो संगठित होकर भारतवर्ष की उन्नति कर सकते थे परंतु अपनी अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा प्राप्ति की लोलुपता में वे परस्पर ही लड़ते थे। कभी कभी तो अनावश्यक ही केवल शौर्य प्रदर्शन के ही निमित्त युद्ध होते थे। वैदिक धर्म को इन्होंने प्रोत्साहन तो दिया परंतु हिंदू जाति निर्बल हो चली थी। मुसलमानों के आक्रमण भी इस समय हो रहे थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी साहित्य का अभ्युदय उस समय हुआ जब कि युद्ध का समय था और वीरता प्रदर्शन की आवश्यकता थी। राजपूत वीर हँसते हँसते बलिदान हो रहे थे परन्तु अकेला चना भला कब भाड़ फोड़ सकता है। यदि समस्त राजपूत वीर संगठन कर एकत्र होकर आक्रांता से युद्ध करते तो कदाचित् ही वे पराधीन होते परंतु राष्ट्रीय एकता के अभाव में शत्रु को पैर जमाने के सुअवसर प्राप्त होने लगे। राजपूत वीर थे परन्तु अन्धविश्वासी भी थे। 'इतिहास-प्रवेश' में लिखा है "कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार सम्राटों के लिए कई ऐसे मौके आये जब वे मुलतान को आसानी से जीत सकते थे। किंतु जब अवसर आता तभी मुलतान के तुर्क-शासक सूर्य-मंदिर को तोड़ने की धमकी देते और कन्नोज की सेना लौट जाती।"

वि० सं० १०५० से वि० सं० १४०० तक के हिंदी साहित्य के काल को वीर गाथा काल कहा जाता है। देश की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव इस काल के साहित्य पर पड़ा है। इस समय काव्य और साहित्य के विभिन्न अंगों का विकास होना असंभव ही था। सिद्धों की रचनाओं

के अतिरिक्त वीर गाथाओं की ही उन्नति संभव थी। हिंदी साहित्य का अभ्युदय ही उस समय हुआ जब कि युद्ध हो रहे थे। परंतु इस काल के कवियों ने राजपूतों का संगठन कर उन्हें मुगलों के विरुद्ध लड़ने की प्रेरणा न दी वरन् अपने आश्रयदाताओं के शौर्य और पराक्रम की प्रशंसा करना ही अपना कर्तव्य समझा। उनकी कवित्व शक्ति आश्रयदाताओं के गुणानुवाद में ही व्यय हुई। जिस प्रकार यूरोप में वीरगाथाओं के विषय 'युद्ध और प्रेम' थे, उसी प्रकार हिंदी साहित्य की वीरगाथाओं का भी विषय 'युद्ध और प्रेम' ही रहा। किसी राजा की रूपवती सुता से विवाह करने के हेतु उस राजा पर आक्रमण करना और फिर युद्ध कर उस कन्या को हर कर लाने में ही वीरों का गौरव माना जाता था। इस प्रकार इन काव्यों में शृंगार की भी छटा दृष्टिगोचर होती थी परंतु प्रधान रस वीर ही रहता था। वीरगाथाओं के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं—मुक्तक वीर गीतों के रूप में और प्रबंध काव्य के साहित्यिक रूप में। मुक्तक वीर गीतों के रूप में 'बीसलदेव रासो' सबसे प्राचीन कृति है। प्रबंध काव्य के रूप में 'खुमान रासो' और 'पृथ्वीराज रासो' की गणना की जा सकती है। वीरगाथाओं के रूप में इन रासों का बड़ा महत्व है। 'गार्सां द तासी' ने 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'राजसूय' शब्द से मानी है। कुछ लोग इस शब्द की उत्पत्ति 'रहस्य' शब्द से बतलाते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल इसकी उत्पत्ति 'रसायण' शब्द से मानते हैं। उनका कहना है कि बीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार बार आया है। डा० उदयनारायण तिवारी ने 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'रास' शब्द से मानी है।

हिंदी के प्रथम महाकवि चंद वरदाई इसी वीरगाथा काल के समुज्ज्वल रत्न हैं। यद्यपि उनकी कृति 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता के संबंध में विद्वानों में गहरा मतभेद है परंतु तो भी 'पृथ्वीराज

रासो' हिंदी का प्रथम महाकाव्य तो है ही। चंद दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट महाराज पृथ्वीराज के सामंत और राजकवि थे। प्रसिद्ध विद्वान् 'गार्सां द तासी' ने भी चंद को पृथ्वीराज का समकालीन माना है। रासो के अनुसार चंद भाट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पिता का नाम वेण और गुरु का गुरुप्रसाद था। अजमेर के चौहानों के यहाँ इनके पूर्वजों की मनमानी थी। इनका जन्म पंजाब प्रांत के प्रसिद्ध नगर लाहौर में हुआ था।

कहते हैं चंद और उनके आश्रयदाता महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों का निधन भी एक ही दिन हुआ। इतिहासकारों ने पृथ्वीराज का जन्म वि० सं० १२०५ निश्चित किया है। अतएव यही समय चंद के जन्म का भी समझना चाहिए। 'मिश्रबंधु' का कहना है कि चंद पृथ्वीराज से कुछ बड़े थे इसलिये वे चंद का जन्मकाल ११८३ वि० अथवा सन् ११२६ ई० के लगभग मानते हैं। परन्तु यह अनुमान मात्र ही है। रासो के अनुसार चंद और पृथ्वीराज का देहावसान एक ही दिन वि० सं० १२४६ में साथ-साथ गजनी में हुआ। पृथ्वीराज का मरण काल वि० सं० १२४६ आधुनिक इतिहासकारों ने भी स्वीकार किया है परंतु उनका कहना है कि पृथ्वीराज ने भारत में मुसलमानों के साथ युद्ध करते हुए रणभूमि में प्राण त्यागे थे, गजनी में नहीं। श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने रासो में लिखी हुई पृथ्वीराज के गजनी में बंद होने और शाहबुद्दीन को एक तीर द्वारा वध करने के पश्चात् चंद सहित आत्म-घात करनेवाली कथा को कवि कल्पना और अनैतिहासिक माना है। अतएव इन विभिन्न मतों के फलस्वरूप स्पष्ट कुछ कहा नहीं जा सकता। 'रासो' में लिखित 'इक्क दीह ऊपन्न इक्क दीहै समाय क्रम' के अनुसार पृथ्वीराज और चंद एक ही दिन पैदा हुए तथा एक ही दिन मरे! इस प्रकार चंद का जन्म वि० सं० १२०५ में और मृत्यु वि० सं० १२४६ में हुई।

चंद पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं उनके सखा, सामंत और प्रधान मंत्री भी थे। षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्दशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक, वैद्यक, संगीत आदि कई भाषाओं और विद्याओं में वे पूर्णतः पारंगत थे और साथ ही वीर एवं साहसी भी थे। जालंधरीदेवी का इष्ट होने से ये अदृष्ट काव्य भी कर सकते थे। सभा, यात्रा, आखेट और युद्ध आदि में सर्वदा ये पृथ्वीराज के साथ रहते थे। चंद ने दो विवाह किए थे। प्रथम पत्नी का नाम कमला उपनाम मेवा था और दूसरी का गौरी उपनाम राजोरा था। रासो की कथा चंद ने गौरी से कही है। गौरी प्रश्न करती है और शंकाएँ प्रस्तुत करती है। चंद उसके प्रश्नों का उत्तर देते हैं और शंका-समाधान भी करते हैं। इन दो पत्नियों से चंद की ग्यारह संतानें हुईं, दस पुत्र और एक कन्या। कन्या का नाम राजबाई था तथा पुत्रों में चौथा पुत्र जल्हण सबसे अधिक योग्य और प्रतिभाशाली था। 'पृथ्वीराज रासो' में चंद के लड़कों का उल्लेख इस प्रकार है—

दहति पुत्र कवि चंद के सुंदर रूप सुजान।
इक जल्ह गुन बावरो गुन-समुंद ससमान॥

महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने सन् १९०९ से १९१३ तक राजपूताने की तीन यात्राएँ की थीं जिनमें उन्होंने प्राचीन ऐतिहासिक काव्यों की खोज की। बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने उनका विवरण प्रकाशित किया है। इस खोज में शास्त्रीजी को 'पृथ्वीराज संबंधित रासो' से सामग्री भी प्राप्त हुई। शास्त्रीजी का कहना है कि नागौर में चंद के वंशज अभी तक रहते हैं। नागौर पृथ्वीराज ने बसाया था और वहाँ की बहुत सी भूमि चंद को दी थी। चंद के वंश के वर्तमान प्रतिनिधि नानूराम भाट से शास्त्रीजी ने भेंट भी की और उन्हें नानूराम भाट से चंद का वंशवृक्ष भी प्राप्त हुआ जो कि इस प्रकार है—

चंद बरदाई
गुणचंद
मल्लचंद
×
×
सीताचंद
वीरचंद
हरिचंद
रामचंद
विष्णुचंद
उद्धरचंद
रूपचंद
बुद्धचंद
देवचंद
सूरदास
खेमचंद
गोविंदचंद
जयचंद
मदनचंद
शिवचंद
बलदेवचंद
चौथचंद
बेनीचंद
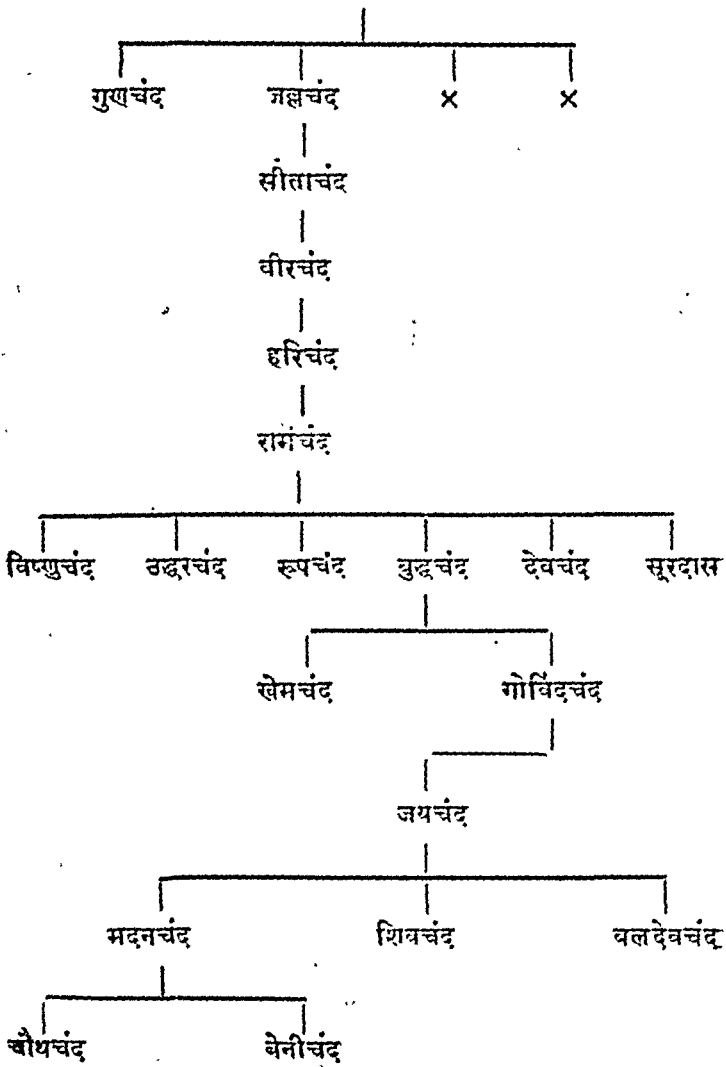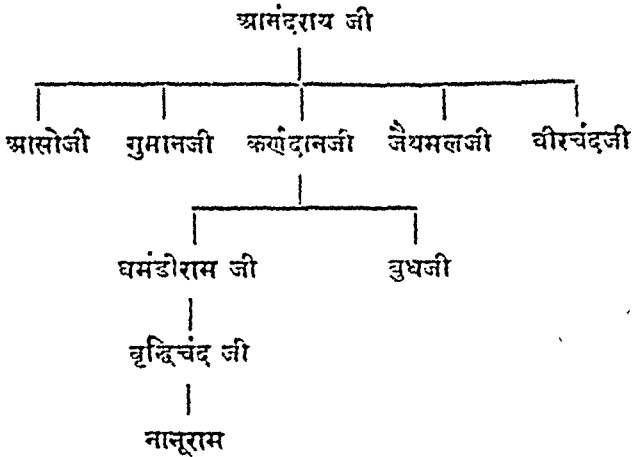
नानूराम का कहना है कि चंद के चार पुत्र थे उनमें से एक मुसलमान हो गया और दूसरे का कुछ पता नहीं, तीसरे के वंशज अंमोर में जा बसे और चौथे जल्ह का वंश नागौर में चला। परंतु 'रासो' में चंद के दस पुत्रों का उल्लेख किया गया है। सूरदास की साहित्य लहरी की टीका में एक पद ऐसा आया है जिसमें सूर की वंशावली दी हुई है। वह पद इस प्रकार है—

प्रथम ही प्रथु यज्ञ तें भे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
पान पाय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥
पारि पायँन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन।
तासु वंस प्रसंस में भौ चंद चारु नवीन॥
भूप पृथ्वीराज दीन्हों तिन्हें ज्वाला देस।
तनय ताके चार कीनो प्रथम आप नरेस॥
दूसरे गुनचंद ता सुत सीलचंद सरूप।
वीरचंद प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥

रंथभौर हमीर भूपति सगत खेलत जाय।
तासु वंस अनूप भो हरिचंद अति विख्याय॥
आगरे रहि गोपाचल में रह्यो ता सुत वीर।
पुत्र जनमे सात ताके महा भट गंभीर॥
कृष्णचंद उदारचंद जु रूपचंद सुभाइ।
बुद्धिचंद प्रकाश चौथेचंद भे सुखदाइ॥
देवचंद प्रबोध संसृतचंद ताको नाम।
भयो सप्तदाम सूरजचंद निकाम॥

इन दोनों वंशावलियों के मिलाने पर केवल यही भेद प्रगट होता है कि नानूराम ने जिनको जल्हचंद की वंश-परंपरा में गाना है, सूरदास के पद में वे ही गुणचंद की परंपरा में हैं। बाकी नाम प्रायः मिलते से हैं।

चंद की कीर्ति 'पृथ्वीराज रासो' नामक उनके ग्रंथ पर निर्भर है। 'पृथ्वीराज रासो' यद्यपि महाकाव्य है परंतु बाबू श्याम सुन्दरदास उसे विशालकाव्य वीर काव्य ही कहना अधिक उचित समझते हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि संस्कृत-लक्षण-ग्रंथों के अनुसार 'रासो' महाकाव्य ही है। यह ढाई हजार पृष्ठ का बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमें ६६ समय (सर्ग या अध्याय) हैं। रासो में कवित्त (छप्पय), दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा, भुजंगप्रयात, पद्धरी, भुजंगी, आर्या, अरिल्ल, मुरिल्ल, आदि प्राचीन समय में प्रचलित प्रायः समस्त छंदों का उपयोग किया गया है। 'वथुआ' सरीखे कुछ ऐसे छंद भी उपलब्ध होते हैं जिनका उल्लेख हिंदी तथा संस्कृत के पिंगल ग्रंथों में भी नहीं मिलता। 'पृथ्वीराज रासो' में छंदोभंग भी पाया जाता है पर हो सकता है लिपिकार ही इसके लिए उत्तरदायी हों। ग्रंथ में महाराज पृथ्वीराज का जीवन चरित्र वर्णन किया गया है। प्रायः नवों रस के उदाहरण उपलब्ध हो सकते हैं पर प्रधानता वीर की ही है। कथानक में शिथिलता और घटनाओं में एकरूपता का अभाव भी पाया जाता है।

जिस प्रकार कादंबरी के संबंध में कहा जाता है कि उसका अन्तिम भाग बाणभट्ट के पुत्र ने पूर्ण किया है उसी प्रकार रासो के विषय में भी प्रसिद्ध है कि चंद के चौथे पुत्र जल्हण ने इसे पूरा किया। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को बंदी बना कर गजनी ले गया, तब चंद भी कुछ दिनों के उपरांत वहाँ पहुँचे। जाते समय चंद ने रासो की पुस्तक जल्हण को सौंप दी और उसे पूर्ण करने का आदेश भी दे गये। रासो में इस कथा का उल्लेख इस प्रकार है—

आदि अंत लगि वृत्ति मन, व्रन्नि गुनी गुनराज।
पुस्तक 'जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज॥

× + × ×

रघुनाथ चरित हनुमंत कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथिराज-सुजस कवि चंद कृत, चंद-नंद उद्धरिय तिमि॥

परंतु इधर श्री अगरचंद नाहटा को रासो की जो प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें प्रथम पद्य तो है ही नहीं तथा दूसरे पद्य में 'चंदनंद' के स्थान पर "चंद्रसिंह उद्धरिय तिमि" लिखा है। इस प्रकार नाहटा जी 'जल्हण' की अपेक्षा 'चन्द्रसिंह' को ही रासो का वास्तविक उद्धारकर्ता मानते हैं।

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में ॰ ६ मतभेद है। कुछ तो इसे प्रामाणिक ग्रंथ मानते हैं और इसका ७६ सम्मान करते हैं परंतु ऐसों की संख्या भी न्यून नहीं है जो कि ६ अप्रामाणिक मानते हैं। 'गार्सी द तासी' ने फ्रेंचभाषा में लिखित अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में 'पृथ्वीराज रासो' क बड़ी प्रशंसा की है। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता कर्नल टाड ने भी २ प्रामाणिक माना है और इसके लगभग तीस सहस्र पद्यों का

अंग्रेजी में भी किया है। इस प्रकार पृथ्वीराज रासो की ख्याति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती ही जाती रही। परन्तु इसे अप्रामाणिक सिद्ध करने में श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने जो परिश्रम किया है उस पर भी ध्यान देना आवश्यकीय है। यद्यपि ओझा जी के पूर्व ही उदयपुर के कविराजा श्यामलदास और जोधपुर के कविराजा मुरारीदान ने पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर संदेह प्रकट किया था परंतु दृढ़ प्रमाणों और अकाट्य तर्कों के आधार पर रासो को अप्रामाणिक सिद्ध करने का श्रेय ओझा जी को ही है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के 'कोषोत्सव-स्मारक संग्रह' में ओझा जी ने 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल' नामक एक विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित कराया है जिसमें कि उन्होंने कई ऐसे अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जिनसे विदित होता है कि रासो पृथ्वीराज के राज्यकाल में नहीं लिखा गया। ओझा जी का कहना है कि रासो में लिखे हुए वृत्तांतों और संवतों का ऐतिहासिक तथ्यों से बिलकुल मेल नहीं खाता। इस प्रकार इस कथन में संदेह ही है कि पृथ्वीराज रासो पृथ्वीराज के समकालिक किसी कवि का लिखा हुआ है। 'रासो' में 'परिहार' 'चालुक्य' और 'परमार' क्षत्रियों को अग्निवंशी कहा गया है तथा चौहानों की उत्पत्ति भी वशिष्ठ द्वारा रचे हुए एक यज्ञकुण्ड से बतलायी गयी है। शिलालेखों, दानपत्रों और प्रशस्तियों के आधार पर ओझाजी इसे कवि-कल्पना ही मानते हैं। १६वीं शताब्दी के पूर्व के किसी भी शिलालेख में कहीं भी क्षत्रियों को अग्निवंशी नहीं कहा गया। वि० सं० ६०० के आस पास के राजा भोजदेव प्रतिहार का एक दानपत्र भी प्राप्त हुआ है जिसमें प्रतिहारों को सूर्यवंशी माना गया है। इसी प्रकार वि० सं० १०७५ का एक दानपत्र भी प्राप्त हुआ है जिसमें सोलंकियों को चंद्रवंशी लिखा गया है। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद (वि० सं० ११५०-१२३०) ने अपने "द्वयाश्रय महाकाव्य" में सोलंकी राजा को "सोम (चंद्र) वंश-विजयी" कहा है। चौहानों को भी सूर्यवंशी

ही माना गया है। अजमेर के 'ढाई दिन का झोपड़ा' नाम की मस्जिद से उपलब्ध होनेवाली एक शिला और पृथ्वीराज विजय' में जोकि पृथ्वीराज के सम सामयिक कवि की रचना है। चौहानों को सूर्यवंशी ही लिखा गया है। इस प्रकार चौहानों को अग्निबंशी मानने के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। 'रासो' का रचयिता चंद यदि पृथ्वीराज का सम सामयिक होता तो इतनी बड़ी भूल रासो में कैसे रह सकती थी। 'पृथ्वीराज रासो' में दी हुई वंशावली में दिये हुए नाम प्रायः शिलालेखों और अन्य प्राचीन कृतियों से नहीं मिलते। रासो के ४४ नामों में से केवल ७ नाम ही 'पृथ्वीराज विजय' और विजोलियाँ के शिलालेख से मिलते हैं जब कि 'पृथ्वीराज विजय' के ३१ नामों में से २२ नाम तथा 'हम्मीर महाकाव्य' के ३१ नामों में से २१ नाम शिलालेखों से मिल जाते हैं। वि० सं० १६३५ के आसपास के लिखे हुए 'सुर्जन चरित महाकाव्य' के २० नामों में से १३ नाम शिलालेखों से मिल जाते हैं। यद्यपि 'सुर्जन चरित' अर्वाचीन ही है। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि 'रासो' 'सुर्जन चरित' से भी अधिक अर्वाचीन है और सत्रहवीं शताब्दी में लिखा गया है।

रासो के वृत्तांत भी नितान्त अशुद्ध ही दृष्टिगोचर होते हैं। रासो में पृथ्वीराज की जननी का नाम कमला लिखा है जो कि अनंगपाल की पुत्री थी परन्तु 'पृथ्वीराज विजय' और वि० सं० १४६० के आसपास बने हुए 'हम्मीर महाकाव्य' आदि ऐतिहासिक कृतियों के अनुसार पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी सिद्ध होता है जो कि त्रिपुरी के हैहय (कलचुरि) वंशी राजा तेजल (अचलराज) की पुत्री थीं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'पृथ्वीराज विजय' पृथ्वीराज की राज सभा के काश्मीरी कवि जयानक का संस्कृत में लिखा हुआ प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य है तथा उसमें दिए हुए संवत और घटनाएँ आदि ऐतिहासिक अन्वेषणों के अनुरूप ही हैं। हाँसी के शिलालेख द्वारा भी यही सिद्ध होता है कि पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी था।

'रासो' में पृथ्वीराज की ११ वर्ष से ३६ वर्ष तक की अवस्था में चौदह विवाह लिखे हुए हैं। ओझाजी ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पृथ्वीराज का ३६ वर्ष तक जीवित रहना भी स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि तीस वर्ष की अवस्था में ही पृथ्वीराज की मृत्यु हो गई थी। साथ ही पृथ्वीराज के अधिकांश साले श्वसुरों का इतिहास में कोई पता ही नहीं चलता। उनमें से अधिकांश तो पृथ्वीराज के सैकड़ों वर्ष आगे या पीछे हुए हैं। वि० सं० ८९४ के शिलालेख से सिद्ध होता है कि नाहरराय परिहार पृथ्वीराज के कई सौ वर्ष पूर्व हुआ था। इस प्रकार नाहरराय परिहार की पुत्री से पृथ्वीराज का प्रथम विवाह भला कैसे हो सकता है। अतएव इसे सर्वथा असत्य ही कहा जावेगा। ताम्र पत्रों और शिलालेखों से सिद्ध होता है कि पृथ्वीराज के राज्य काल के पूर्व से लेकर उसकी मृत्यु तक आबू का राजा धारावर्ष था न कि सलख या जैत। इस प्रकार जैत की बहिन इच्छिनी से पृथ्वीराज का विवाह होना भी सिद्ध नहीं होता। फारसी तवारीखों के अनुसार पृथ्वीराज का पुत्र रैणसी नहीं था, बल्कि गोविंदराज था। परंतु रासो में लिखा हुआ है कि तेरह वर्ष की अवस्था में दाहिमा चांवड की बहन से पृथ्वीराज का विवाह हुआ जिससे रैणसी की उत्पत्ति हुई। न तो कभी रणथंभौर में यादवों ने ही शासन किया और न देवगिरि में भाण नामक कोई राजा ही हुआ। इस प्रकार रासो में दिये हुए पृथ्वीराज के विवाहों का वृत्तांत भी सर्वथा असत्य प्रमाणित होता है। रासो में लिखा है कि पृथ्वीराज की भगिनी पृथा का विवाह मेवाड के राजा समरसिंह के साथ हुआ जो कि पृथ्वीराज के पक्ष में लड़ता हुआ शहाबुद्दीन गोरी के साथ युद्ध में मारा गया। परन्तु ऐसे शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं जिनसे सिद्ध होता है कि समरसिंह वि० सं० १३५८ तक जीवित रहा अर्थात् पृथ्वीराज की मृत्यु के १०९ वर्ष उपरान्त वह जीवित रहा। रासो में दिये हुए समस्त संवत भी अशुद्ध ही हैं।

शिलालेखों और प्राचीन कृतियों से मिलाने पर बड़ा अंतर प्रतीत होता है। रासो में लिखा हुआ है कि अनंगपाल ने अपने दौहित्र—पृथ्वीराज को वि० सं० ११३८ में उसे दिल्ली का राज्य दे दिया परन्तु ऐतिहासिक अन्वेषणों से ज्ञात होता है कि दिल्ली का राज्य वीसलदेव ने पृथ्वीराज के पूर्व ही अपने राज्य में मिला लिया था। रासो में दी हुई संयोगिता-स्वयंवर की कथा को भी ओझाजी अनैतिहासिक मानते हैं। सोमेश्वर के समय मेवात पर मुगलों का आधिपत्य स्थापित नहीं हुआ था इसलिये चंद की लिखी हुई यह घटना भी सर्वथा असत्य ही है कि सोमेश्वर ने मेवात के मुगल राजा मुद्गलराय पर कर न देने पर आक्रमण किया। रासो के ६६वें समय में लिखी हुई रावल समरसिंह के पौत्र कुंभा के दक्षिण में बीदर के मुसलमान बादशाह के पास रहने की कथा भी सर्वथा अनैतिहासिक ही है क्योंकि वि० सं० १३५६ में अलाउद्दीन खिलजी के समय मुसलमानों का दक्षिण में प्रथम बार प्रवेश हुआ। वि० सं० १४८७ में बीदर के राज्य की स्थापना हुई है। रासो में लिखा हुआ है कि पृथ्वीराज को बन्दी कर शहाबुद्दीन गोरी गजनी ले गया और वहाँ उसने पृथ्वीराज के नेत्रों को निकलवा लिया। चंद भी कुछ समय उपरांत गजनी पहुँचा और वहाँ उसने बादशाह से पृथ्वीराज के शब्द भेदी बाण चलाने की बड़ी प्रशंसा की। बादशाह ने पृथ्वीराज का कौशल देखने के लिए सभा बुलवाई और बाण चलाने की आज्ञा दी। चंद के संकेत करने पर पृथ्वीराज ने बाण गोरी के हृदय की ओर मारा जिससे गोरी की मृत्यु हो गई। शीघ्र ही चंद ने म्यान से कटार निकाल ली और पृथ्वीराज तथा चंद ने आत्महत्या कर ली। इस प्रकार तीनों की मृत्यु एक साथ हुई परन्तु ओझाजी का कहना है कि यह घटना ऐतिहासिक नहीं है क्योंकि गोरी की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथ से नहीं बल्कि गक्खरों के हाथ से वि० सं० १२६३ में हुई थी। रासो में चंगेज, तैमूर आदि बहुत से पीछे के नामों का भी

उल्लेख हुआ है। इस प्रकार इन अशुद्धियों को देखते हुए ओझाजी का मत है कि रासो की रचना वि० सं० १५१७ और १७३२ वि० सं० के बीच किसी समय हुई। इस विषय में उन्होंने प्रमाण भी दिया है। उनका कहना है कि वि० सं० १५१७ में महाराजा कुंभकर्ण ने कुंभ स्वामी के मंदिर में कई सौ श्लोकों का एक विस्तृत लेख खुदवाया है। परन्तु उसमें समरसिंह और पृथा बाई के विवाह की तथा गोरी के विरुद्ध लड़ते हुए समरसिंह की मृत्यु की घटना का उल्लेख नहीं किया गया। वि० सं० १७३२ में महाराजा राजसिंह ने राजसमुद्र तालाब के नौ चौकी नामक बाँध पर २५ बड़ी-बड़ी शिलाओं में एक महाकाव्य खुदवाया है जिसके तीसरे सर्ग में लिखा हुआ है कि समरसिंह ने पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह किया और शहाबुद्दीन के साथ की लड़ाई में वह मारा गया जिसका वृतान्त भाषा की 'रासो' नामक पुस्तक में विस्तार से लिखा हुआ है। इस प्रकार वि० सं० १६०० के आस-पास ही पृथ्वीराज रासो लिखा गया। रासो में मेवाती मुगल युद्ध का वर्णन भी दिया गया है परन्तु वि० सं० १५८३ में भारतवर्ष में बाबर ने मुगल राज्य की स्थापना की। इस प्रकार १५८३ वि० सं० के पश्चात् ही रासो की रचना हुई होगी। रासो में दस प्रतिशत फारसी के शब्द मिलते हैं तथा क्रियाओं के अत्यन्त अर्वाचीन रूप भी उपलब्ध होते हैं जो कि इसकी प्राचीनता में संदेह उत्पन्न करते हैं। इन सब कारणों को देखते हुए ओझा जी का कहना है कि रासो वि० सं० १५८३ और १६४२ वि० सं० के बीच ही किसी समय लिखा गया अर्थात् वि० सं० १६०० के आस-पास ही इसकी रचना हुई।

महमूद शेरानी साहब ने लाहौर की 'ओरियंटल कालिज मेगजीन' के सन् १६३४ से सन् १६३७ तक के अंकों में पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर विचार किया है। उनका कहना है कि रासो की 'पद्मावती' 'पद्मावत' का प्रभाव है अर्थात् जायसी के 'पद्मावत' के उपरान्त पृथ्वीराज रासो की रचना हुई। साथ ही 'मीरआतिश' जैसे

पदवी सूचक शब्द मुगलों के समय में ही प्रयोग में आते थे; मुगलों के शासन के पूर्व इन शब्दों का प्रयोग न होता था। इस प्रकार महमूद शेरानी साहब ने प्रमाणों सहित सिद्ध किया है कि 'रासो' शाहजहाँ के समय लिखा गया।

श्रीयुत अमृतशील एम० ए० ने भी रासो की प्रामाणिकता पर संदेह प्रकट करते हुए सन् १६२६ की मई, जून तथा जुलाई की 'सरस्वती' में क्रमशः तीन लेख प्रकाशित करवाये हैं। उनका कहना है कि दिल्ली में तोमर वंश के राज्य का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। मुसलमान इतिहासकारों ने पृथ्वीराज को अजमेर का राजा लिखा है। फरिश्ता ने लिखा है कि पिथौरा का भाई चामुण्डराय दिल्ली का राजा था। वि० सं० १२२० का एक शिलालेख दिल्ली की फीरोजशाहवाली लाट पर मिला है जिससे सिद्ध होता है कि वि० सं० १२२० के कुछ पूर्व ही वीसलदेव ने दिल्ली को विजय किया था। साथ ही इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि सोमेश्वर के राज्य काल में दिल्ली में अजमेर का कोई करदाता राजा राज्य करता था या अजमेर का कोई वेतन भोगी सामंत वहाँ का दुर्ग रक्षक था। अजमेर का युवराज पृथ्वीराज अपने करदाता राजा अथवा दुर्गरक्षक नौकर के घर गोद जावे; यह सम्भव नहीं कहा जा सकता। वि० सं० १२२६ का एक शिलालेख सोमेश्वर के पूर्व के राजा पृथ्वीराज द्वितीय का मिला है और सं० १२२६ के फाल्गुन का लिखा हुआ बिजौलियाँ का प्रसिद्ध लेख सोमेश्वर का ही है। अतएव सं० १२०४ में अर्थात २२ वर्ष पूर्व सोमेश्वर अनंगपाल की सहायता कर कमला से विवाह नहीं कर सकते। शील जी ने कुछ ऐसे सिक्कों का उल्लेख भी किया है जिनके एक ओर पृथ्वीराज का नाम और एक अश्वारोही मूर्ति है तथा दूसरी ओर एक वृषभ मूर्ति तथा 'आसावरी श्री सामंतदेव' लिखा है। कुछ ऐसे पैसे भी मिले हैं जिनके एक ओर पृथ्वीराज का नाम और दूसरी ओर 'सुलतान मुहम्मद साम' लिखा है। इन सिक्कों से ऐसा प्रमाणित होता है कि पृथ्वीराज कुछ

समय तक मुहम्मद गोरी के सामंत भी रहे हैं। इस प्रकार शील जी रासो की कई घटनाओं को सर्वथा असत्य मानते हैं।

इन सबके साथ साथ प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डा० बुलर के विचारों पर भी ध्यान देना चाहिए। सन् १८७५ ई० में संस्कृत पुस्तकों की खोज में डा० बुलर ने काश्मीर की यात्रा की जहाँ उन्हें जयानक द्वारा लिखी हुई 'पृथीराज-विजय- महाकाव्य' की प्राचीन प्रति प्राप्त हुई जिस पर द्वितीय राजतरंगणी के कर्ता जोनराज की टीका भी थी। ग्रंथ का अध्ययन करने पर आपको ज्ञात हुआ कि उस महाकाव्य का रचयिता पृथ्वीराज का समसामयिक और उनका राजकवि था। उसमें लिखे हुए चौहानों के वृत्तांत वि० सं० १०६० तथा वि० सं० १२२६ के शिलालेखों से मिलते जुलते से हैं। इस महाकाव्य की वंशावली भी शिलालेखों से मिलती जुलती है। 'पृथ्वीराज रासो' के वृत्तांत संवत् और वंशावली 'पृथ्वीराज विजय' के सर्वथा विपरीत है। इस प्रकार डा० बुलर का कहना है कि 'पृथ्वीराज रासो' सर्वथा जाली ग्रंथ है।

पृथ्वीराज रासो को अप्रामाणिक मानने वाले विद्वानों का कथन है कि चंद नाम का कोई कवि पृथ्वीराज की सभा में था ही नहीं। डा० बुलर का भी यही कहना है। पं० रामचंद्र शुक्ल जी का भी कथन है कि चंद बरदाई नाम का कोई कवि पृथ्वीराज की सभा में था ही नहीं या हो सकता है कि जयानक के काश्मीर लौटने पर आया हो। परंतु शुक्ल जी का स्पष्ट मत यही है कि "अधिक संभव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज या उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनों में से किसी के वंशज के यहाँ चंद नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो। पीछे जो बहुत सा कल्पित "भट्ट-भणंत" तैयार होता गया उन सबको लेकर और चंद को पृथ्वीराज का समसामयिक मान उसी के नाम पर "रासो" नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गयी होगी।"

अब पृथ्वीराज के समकालीन कवि जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' के पाँचवें सर्ग का यह श्लोक देखिए—

तनयश्चंद्रराजस्य चंद्रराज इवाभवत्।
संग्रहं यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात् ॥

इस श्लोक में स्पष्ट 'चंद्रराज' नामक एक कवि का उल्लेख है परंतु ओझा जी इसे 'चंद्रक' कवि मानते हैं जिसका उल्लेख काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने भी किया है। परंतु हमारी समझ में यही आता है कि चंद्रराज और चंद बरदाई दोनों एक ही कवि हैं; इन दोनों में विभिन्नता नहीं है। वास्तविक नाम चंद ही है बरदाई तो केवल विशेषण मात्र है। और फिर 'चंद' को कोई 'चंद्रराज' भी लिखे तो अनुचित नहीं कहा जा सकता। पं० चंद्रवली पांडे ने भी अपनी पुस्तक 'हिंदी कविचर्चा' में चंद और चंद्रराज को एकही माना है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि चंद बरदाई नाम का कोई कवि पृथ्वीराज की सभा में अवश्य था।

उदयपुर के विक्टोरिया हाल के पुस्तकालय में जो 'रासो' की पुस्तक है उसके अंत में एक छंद है जिससे ज्ञात होता है कि राणा अमरसिंह ने कभी इसके संचय का प्रयत्न किया था। वह छन्द इस प्रकार है—

गुनमनियन रस पोइ चनद कवियन कर विद्धिय।
छन्द गुनी ते तुट्ट मन्द कवि भिन भिन किद्धिय ॥
देस देस विक्खरिय मेलगुन पार न पावय।
उद्दिम करि मेलवत आस बिन आलय आवय ॥
चित्रकूट रान अमरेस नृप नित श्रीमुख आयुस दयो।
गुन बिन बीन करुना उदधि लिख रासो उद्दिम कियो ॥

इस पद्य की प्रथम दो पंक्तियों से ज्ञात होता है कि चंद की भरी गुणवती रचना मंद कवियों के हाथ में पड़कर भिन्न भिन्न

धारण कर चुकी थी और देश-देश में इस रूप में बिखर चुकी थी कि उसका किसी प्रकार मेल मिलता न था। इसी मेल का प्रयत्न चित्रकूट के धनी महाराणा ने भी किया और वर्तमान रासो उसी सम्मिलन का प्रसाद है। संवत् १६५३ में राणा अमरसिंह प्रथम गद्दी पर बैठा। अतएव राणा अमरसिंह प्रथम को ही इसके संचयन का श्रेय देना होगा; राणा राजसिंह के उपरान्त होने वाला राणा अमरसिंह तो हो ही नहीं सकता। कहा जाता है कि अकबर ने भी पृथ्वीराज रासो को सुना था और उसकी बड़ी प्रशंसा की थी। उपर्युक्त पद्य द्वारा कम से कम यह तो प्रगट हो जाता है कि मुगलकाल के पूर्व ही 'रासो' की रचना हो चुकी थी और 'मुगल काल' में तो वह काफी प्रसिद्धि भी पा चुका था।

हाल ही में मुनि जिन विजय जी को चंद बरदाई द्वारा रचित चार प्राचीन छप्पय उपलब्ध हुए हैं जिनकी भाषा पृथ्वीराज कालीन भाषा ही मानी जावेगी और किसी भी निष्पक्ष विद्वान् को इसमें तनिक भी आपत्ति नहीं हो सकती। इनमें से तीन छप्पय अपने विकृत रूप में नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रासो में भी मिलते हैं। एक छप्पय देखिए :—

इक्कु बाणु पहु वीसु जु कइं वासह मुक्कओ।
उर भिंतरी खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ॥
बीअं करि संधीउं भंमइ सूमेसर नंदण।
एहु सु गाडिदाहिमओ खणइ खद्दइ संइभरि वणु॥
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह।
न जांणउं चंद बलद्दिउ कि न वि छुट्टइ इहफलह॥

यही प्राचीन छप्पय नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रासो में (पृष्ठ १४६६, पद्य २३६) में इस रूप में मिलता है :—

एक बान पुहुमी नरेस कैमासह मुक्यौ।
उर उप्पर थरहर्‌यौ वीर कष्पंतर चुक्यौ॥

विथौ बान सधान हन्यौ सोमेसर नंदन ।
गाढौ करि निग्रह्यौ पनिव गड्यौ संभरिधन ॥
थल छोरि न जाइ अभागरौ गाड्यौ गुन गहि आगरौ ।
इम जंपै चंदवरद्दिया कहा निघहै इय प्रलौ ॥

ध्यान देने योग्य बात यहाँ यह भी है कि यही छंद बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी की हस्तलिखित प्रति में जो संवत १६५७ के लगभग लिखी गई थी, इस रूप में मिलता है :—

एकु बान पुहुमी नरेस कैवास हि मुक्कौ ।
उर उप्पर खर हन्यो वीक कप्बहंतर चुक्कौ ॥
वियो बाँन संधान हन्यौ सोमेसर नंदन ।
गहाँ करि निग्रह्यौ पन्यो रड्यौ संभरि-नंदन ॥

मुनि जिन विजय ने 'पुरातन प्रबंध संग्रह' नामक ग्रंथ से जो छप्पय उद्धृत किया है उसकी वि० सं० १५२८ की प्रतिलिपि प्राप्त है। उसके अंत में लिखा हुआ है—"नागेंद्र गच्छ के आचार्य उदयप्रभ सूरि के शिष्य जिनभद्र ने, मंत्रीश्वर वस्तुपाल के पुत्र जयन्तसिंह के पढ़ने के लिए, सं० १२६० में, इस नाना-कथानक-प्रधान प्रबन्धावलि की रचना की।" इस ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। श्रीअगरचन्द नाहटा ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४६ अंक ३ में लिखा है कि पुरातन प्रबंध संग्रह में जो छंद दिये गये हैं उनकी भाषा अपने काल के अनुकूल ही है। हमने उदाहरण देते हुए सिद्ध कर दिया है कि मुनि जिन विजयजी का जो छप्पय मिले हैं वे रासो की प्रतियों में भी विकृत रूप में विद्यमान है। इस प्रकार इससे इतना तो सिद्ध ही हो जाता है कि संवत् १२६० तक 'रासो' की रचना अवश्य हो चुकी थी। उपर्युक्त उदाहरणों से यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि चंद नाम का कोई कवि पृथ्वीराज के समय में हुआ अवश्य था जिसने पृथ्वीराज का गुणानवाद उस काल की भाषा में किया। उसकी यह कृति 'पृथ्वीराज रासो' के नाम से प्रख्यात

हुई परंतु अब वह अपने मूल रूप में उपलब्ध नहीं होती। उसके वर्तमान रूप में अत्यंत परिवर्तन—परिवर्धन हुआ है। श्री मुनि जिन विजय जी, श्री अगरचंद नाहटा, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा डा० दशरथ शर्मा जैसे प्रसिद्ध विद्वानों का भी यही मत है। 'मिश्रबन्धु' ने भी "हिन्दी नवरत्न" में लिखा है—"इन कारणों से प्रकट है कि रासो जाली नहीं है। पृथ्वीराज के समय में ही चंद ने इसे बनाया था। इसके अकृत्रिम होने का एक यह भी कारण समझ पड़ता है कि यदि कोई मनुष्य सोलहवीं शताब्दी के आदि में इसे बनाता तो वह स्वयं अपना नाम न लिखकर ऐसा भारी (२५०० पृष्ठों का) बढ़िया महाकाव्य चंद को क्यों समर्पित कर देता ?"

अब रासो में दिए हुए संवतों और वृत्तांतों पर भी विचार किया जाय। पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने रासो का पक्ष समर्थन करते हुए लिखा है कि रासो के सब संवतों में यथार्थ संवतों से ९०-९१ वर्ष का अंतर एक नियम से पड़ता है। प्रमाण रूप में उन्होंने रासो का वह दोहा उद्धृत किया है—

एकादस से पंचदह विक्रम साक अनंद।
तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद॥

पंड्याजी ने 'विक्रम साक अनंद' का अर्थ इस प्रकार किया है अ=शून्य और नंद=९ अर्थात् ९० रहित विक्रम संवत। परन्तु इन ९० वर्षों के घटाने का क्या कारण है इसका कोई प्रमाण पंड्याजी प्रस्तुत न कर सके। पंड्याजी ने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं वे कसौटी पर खरे नहीं उतरते। हो सकता है आगे चलकर इस अनंदसंवत के चलने के कारण ज्ञात हो सकें। कुछ विद्वानों का कहना है कि इसमें 'अनंद' के स्थान पर 'अनिंद' पाठ का होना अधिक उपयुक्त है। रासो में एक दोहा और मिलता है जिससे भी नौ गुप्त करने का अर्थ मिलता है—

एकादस सै पंचदह विक्रम जिमि ध्रमसुत्त।
त्रतिय साक प्रथिराज कौ लस्यौ विप्र गुन गुत्त॥

पंड्याजी ने यह भी लिखा है कि चित्तौड़ नरेश समरसिंह और उनकी महारानी पृथा के कुछ पट्टे-परवाने आदि मिले हैं जिनमें भी इसी अनंदसंवत का प्रयोग किया गया है। नागरी प्रचारिणी सभा के अन्वेषण में जो पुराने आज्ञापत्र आदि मिले हैं उनमें भी अनंद संवत् का प्रयोग हुआ है। परन्तु श्रीओझाजी ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण) भाग १ पृष्ठ ३६६-४५४ में 'अनंद संवत की कल्पना' नामक एक निबन्ध लिखा है जिसमें उन्होंने उदाहरणों सहित सिद्ध किया है कि 'अनंद संवत' स्वीकार करने पर भी रासो के संवत शुद्ध नहीं हो सकते।

डा० दशरथ शर्मा ने भी अपना एक विद्वतापूर्ण लेख लिखा है, जिसमें उन्होंने रासो को ऐतिहासिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शर्माजी का कहना है कि रासो को अप्रामाणिक कहनेवाले विद्वानों ने नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित पृथ्वीराज रासो का आधार लेकर ही लेख लिखे हैं परन्तु रासो की कुछ प्राचीन लघुतम-प्रतियाँ भी प्राप्त हुई हैं जोकि बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी में सुरक्षित रखी हुई हैं। इन प्रतियों का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि रासो को जाली कहनेवालों के बहुत से तर्क निर्मूल हैं और रासो सर्वथा प्रामाणिक ग्रन्थ माना जा सकता है। ओझाजी ने लिखा है कि शिला लेखों और इतिहासों में कहीं भी आबू के अग्निकुण्ड से चार राजपूत-कुलों की उत्पत्ति की कथा नहीं मिलती जब कि रासो में यह कथा लिखी हुई है। शर्माजी का कहना है कि बीकानेर की लघुतम-प्रति में इस संबंध में निम्नांकित पंक्तियाँ मिलती हैं—

ब्रह्मान जग उपन्न भूर।
मानिकराइ चहुआन सूर॥

अर्थात् ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान मानिकराय उत्पन्न हुआ। प्रायः अन्य ग्रन्थों में भी चौहानों की कथा इसी प्रकार मिलती है। 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'सुर्जन चरित' में भी जिनको ओझाजी ने

प्रामाणिक माना है, पुष्कर तीर्थ में ब्रह्मा के यज्ञ से चौहानों के उत्पन्न होने की कथा मिलती है। बीकानेर की लघुतम प्रति में इस विषय का वर्णन नहीं है। ओझाजी ने रासो की वंशावली को अशुद्ध माना है परन्तु यह वंशावली भी नागरी प्रचारिणी सभा के रासो की ही है जब कि बीकानेर की लघुतम प्रति में दी हुई वंशावली इतनी विस्तृत नहीं है। बीकानेर की लघुतम प्रति की वंशावली देखिए:—

चाहमान माणिक्यराइ
|
उनके अनेक वंशज
|
धर्माधिराज
|
विसल
|
सारंग
|
अनल
|
जयसिंह
|
आनंद
|
सोम
|
पृथ्वीराज

अब 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' में दी हुई वंशावली देखिए:—

चाहमान
|
अनेक अन्य शासक
|
चामुण्डराय
├── दुर्लभराज
└── विग्रहराज (तृतीय)
    |
    पृथ्वीराज (प्रथम)
    |
    अर्णोराज
    ├── जगद्देव
    │ |
    │   पृथ्वीराज (द्वितीय)
    ├── विग्रहराज चतुर्थ
    │ |
    │   अमरगांगेय
    ├── ×
    └── सोमेश्वर
        |
        पृथ्वीराज (तृतीय)

पृथ्वीराज विजय के अधिकांश नाम रासो की इस प्रति से मिलते-जुलते से हैं। 'मामिणय राइ' नाम का उल्लेख ताम्रपत्र में भी है। धर्माधिराज चामुण्डराय को कहा गया है जिनके अत्यंत धार्मिक होने का उल्लेख पृथ्वीराज विजय में भी है। 'विसल' और 'विग्रहराज तृतीय' एक ही व्यक्ति हैं। शर्माजी 'सारंग' पृथ्वीराज को मानते हैं। उनका कहना है कि हो सकता है राज्याभिषेक के पूर्व पृथ्वीराज का यही नाम रहा हो। आनल्ल आल्हण का प्रतिरूप है परन्तु जयसिंह के विषय में आप कुछ न कह सके और आनल्ल तथा जयसिंह दोनों को आप एक ही मानते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य नाम तो मिलते-जुलते से हैं। 'पृथ्वीराज-विजय' के अन्य नामों के विषय में आपका कहना है कि

हो सकता है अनावश्यक समझकर रासो के रचयिता ने इन्हें छोड़ दिया हो। इस प्रकार ओझाजी का यह आक्षेप कि सम्पूर्ण वंशावली अशुद्ध है, सर्वथा सत्य प्रमाणित नहीं होता।

ओझाजी ने जिन अन्य अशुद्धियों का उल्लेख किया है उनमें की अधिकांश घटनाओं का वर्णन लघुतम प्रति में मिलता ही नहीं है। पृथा का विवाह, शहाबुद्दीन गोरी द्वारा समरसिंह के मारे जाने की घटना, भीम द्वारा सोमेश्वर और पृथ्वीराज द्वारा भीम के वध आदि का वर्णन लघुतम प्रति में नहीं किया गया है। लघुतम प्रति में सलख परमार की पुत्री इच्छिनी के साथ पृथ्वीराज के विवाह के वर्णन के अतिरिक्त अन्य विवाहों का उल्लेख नहीं है। इस विषय में आप कहते हैं कि हो सकता है यह बाद में जोड़ दिया गया हो। शर्माजी का कहना है कि संभवतः दिल्ली के अंतिम तोमर राजा ने दिल्ली को सोमेश्वर के सौतेले भाई को दहेज में दे दिया हो परन्तु रासो के लिपिकर्ता ने इस कथा में बीसलदेव के स्थान में सोमेश्वर का नाम लिख दिया हो। "ललित विग्रहराज नाटक" में बीसलदेव चतुर्थ और इन्द्रप्रस्थ के राजा की पुत्री के प्रेम की कथा का वर्णन भी किया गया है परन्तु नाटक की प्रति अधूरी मिलने से इस विषय पर अधिक कुछ ज्ञात नहीं हो सका। पद्मावती और पृथ्वीराज के विवाह की कथा भी लघुतम प्रति में दी नहीं गई है। संवतों की अशुद्धि के विषय में शर्मा जी का कहना है कि लघुतम प्रति में संवतों की अशुद्धि नहीं है।

डा० दशरथ शर्मा ने 'संयोगिता-स्वयंवर' को प्रामाणिक सिद्ध करने में जो परिश्रम किया है उसके लिए हिन्दी-साहित्य अवश्य ही उनका चिर ऋणी रहेगा। 'राजस्थान-भारती' भाग १ अंक २-३ में पृष्ठ २१ २७ में आपका एक गवेषणापूर्ण निबंध प्रकाशित हुआ है जिसमें आपने 'संयोगिता स्वयंवर' कथा को ऐतिहासिक माना है। आपका कथन है कि 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'रंभा मंजरी' (नाटिका) में जयचंद के राजसूय यज्ञ और संयोगिता स्वयंवर की कथा न होने

से श्रोझाजी इस कथा को अनैतिहासिक मानते हैं परंतु किसी ग्रंथकार के किसी घटना के प्रति मौन रहने से उन घटनाओं का अस्तित्व ही उड़ा देना न्याय संगत नहीं कहा जा सकता। आपका कहना है कि 'हम्मीर-महाकाव्य' में तो पृथ्वीराज के ऐतिहासिक युद्धों का भी उल्लेख नहीं है ? सं० १२६० के लगभग के 'जयचंद्र प्रबंध' में लिखा हुआ है कि पृथ्वीराज के निधन पर जयचंद्र ने घी के दिए जलवाये थे। इसमें कोई रहस्य अवश्य है ? 'रंभा मंजरी' को शर्मा जी अप्रामाणिक मानते हैं। आपका कहना है कि जबकि इतिहास में जयचंद्र को सूर्यवंशी लिखा ही नहीं है और न तो जयचंद्र के सूर्यवंशी होने का कोई प्रमाण ही है तब 'रंभा मंजरी' में उसे सूर्यवंशी कैसे लिखा गया ? आधुनिक गहड़वाल अपने आपको चंद्रवंशी मानते हैं ? जयचंद्र के पिता का नाम मल्लदेव नहीं था बल्कि विजयचंद्र था। 'रंभा मंजरी' में जयचंद्र के जीवन की प्रमुख घटनाओं का भी उल्लेख नहीं है; इस प्रकार 'रंभा मंजरी' स्वयं ही अनैतिहासिक प्रमाणित हो रही है, फिर उसमें 'संयोगिता स्वयंवर' की कथा कैसे हो सकती है। 'पृथ्वीराज-विजय' के जिसे कि श्रोझाजी ने भी प्रामाणिक माना है अंतिम सर्ग से ज्ञात होता है कि कोई राजकुमारी किसी अनभिमत पुरुष के साथ विवाह के प्रस्ताव से उद्विग्न होकर पृथ्वीराज का स्मरण कर रही है। शर्माजी इस राजकुमारी को संयोगिता ही मानते हैं। 'पृथ्वीराज विजय' की प्रति अपूर्ण मिलने से इस विषय पर और अधिक प्रकाश नहीं डाला जा सकता। परंतु 'पृथ्वीराज-विजय' की नायिका और रासो की संयोगिता में कई ऐसी समानताएँ हैं जिनसे सिद्ध होता है कि ये दोनों एक ही हैं। दोनों काव्यों की नायिकाओं का संभवतः गंगा के तट पर स्थित किसी स्थान से सम्बन्ध था; दोनों ही का विवाह किसी अनभिमत पुरुष से निश्चित हुआ था। इन दोनों के प्रति पृथ्वीराज बिना देखे ही अनुरक्त हुआ था तथा दोनों कृतियों में इसके पूर्व पृथ्वीराज के अन्य विवाहों का भी उल्लेख है। 'पृथ्वीराज विजय' की

राजकुमारी तिलोत्तमा की अवतार थी और संयोगिता रंभा की। इस प्रकार दोनों में बहुत अधिक सादृश्य है। 'सुर्जन चरित' में भी जिसे ओझा जी भी प्रामाणिक मानते हैं इसी प्रकार की कथा का वर्णन किया गया है। 'सुर्जन चरित' में कान्यकुब्जेश कुमारी के पृथ्वीराज पर अनुरक्त होने की कथा है। इस काव्य में जो कथा दी गई है वह रासो से मिलती जुलती सी है अन्तर सिर्फ नाम का है। संयोगिता के स्थान पर 'कांतिमती' नाम दिया गया है। इसी प्रकार की कथा 'आइने-अकबरी' में भी है जो कि १६ वीं शताब्दी में रची गई है। इन सबसे पुष्ट और विचारणीय प्रमाण यह है कि रासो के जिस अंश में यह कथा है उसकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है। इस प्रकार इन सब युक्तियों पर विचार करने के पश्चात् शर्मा जी ने यही निष्कर्ष निकाला कि "जिसकी ऐतिहासिकता के विरुद्ध सब युक्तियाँ हेत्वाभास-मात्र हैं, उस 'कांतिमती-संयोगिता' को हम पृथ्वीराज की परम-प्रेयसी रानी मानें तो दोष ही क्या है? यह चन्द्रमुखी अब भ्रम-राहु द्वारा कितने समय तक और ग्रस्त रहेगी? क्या आपका इतिहासाध्ययन-जाप एवं सद्युक्ति-मनन अब भी इसे भ्रम-राहु के चंगुल से मुक्त न कर सकेगा?"

'सुर्जन चरित' में भी गोरी को अनेक बार पराजित कर अन्तिम युद्ध में कैदी के रूप में पृथ्वीराज के गजनी जाने और वहाँ चंद के संकेत पर शब्दभेद बाण चला कर गोरी के वध करने की कथा वर्णन की गई है; परंतु 'सुर्जन चरित' में चंद के साथ पृथ्वीराज के जीवित लौटकर राज्य करने की कथा भी दी गई है जब कि रासो में तीनों के साथ साथ मरने का उल्लेख है। इस कथा को प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न श्री अगरचंद नाहटा ने भी किया है। 'पुरातन प्रबंध संग्रह' नामक ग्रंथ में 'पृथ्वीराज प्रबंध की निम्नांकित पंक्ति उद्धृत है—"एवं वार ७ बद्धा बद्धा मुक्ताः नृपति प्राह—मयात्वं सप्त वारान मुक्तस्त्वं मामेकवलमपि न मुञ्चसि?" इसी प्रकार सं० १४०५ में राजशेखर

(सूरि रचित 'प्रबंध कोप) में भी लिखा है—"विंशतिवार वद्ध रुद्ध सहावदीन सुरत्राण भोक्ता पृथिवीराजोऽपि वद्ध ।" (वस्तुपाल-प्रबन्ध पृष्ठ १७ मुनि जिन विजय द्वारा संपादित संस्करण) इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि रासो में दी हुई पृथ्वीराज के बंदी होने और शब्दभेद बाण चलाने की घटना में सत्यांश अवश्य है। डा० दशरथ शर्मा ने जैन ग्रंथ 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के वि० सं० १५२८ की हस्तलिखित प्रति में प्राप्त होने वाले एक प्रबन्ध से कुछ प्रमाण देते हुए इस कथा की ऐतिहासिकता प्रमाणित की है। उसमें लिखा है कि पृथ्वीराज योगिनीपुर या दिल्ली का शासक था और सोमेश्वर का पुत्र था तथा उसके भाई का नाम यशोराज था। पृथ्वीराज जयचंद का शत्रु था। उसने गजनी के शासक को सात बार पराजित किया, पकड़ा तथा छोड़ दिया। पृथ्वीराज के मंत्री प्रतापसिंह ने विश्वासघात कर पृथ्वीराज को पकड़वा दिया। इस प्रबंध में भी पृथ्वीराज की शब्द भेदी बाण चलाने वाली घटना का उल्लेख है पर अंतर यह है कि सुल्तान अपनी लौहमूर्ति रख देता है और पृथ्वीराज के बाण से लौहमूर्ति के टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि 'पुरातन प्रबंध संग्रह' से रासो अवश्य ही प्राचीन है। श्री मुनि जिन विजय जी 'पृथ्वीराज प्रबन्ध' का रचना काल वि० सं० १२९० मानते हैं और इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रासो की रचना तेरहवीं शताब्दी में या उसके पूर्व अवश्य हो चुकी थी। शर्मा जी का कहना है कि यदि रासो की प्राचीनतम प्रति मिल जाय तो निश्चय ही उसमें 'सुर्जन चरित' में उद्धृत वृत्तांत अवश्य दृष्टिगोचर होंगे। मिश्रबन्धुओं का कहना है कि इतिहास भी प्रायः मुसलमानों के कथन पर विश्वास करके लिखे गए हैं। हो सकता है कि उन्होंने अपना अपमान छिपाने के लिए इस कथा का वर्णन न किया हो।

उदयपुर के कविराव मोहनसिंह जी ने भी 'राजस्थान भारती' भाग १ अंक २-३, पृष्ठ २९-४४ में 'पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

पर पुनर्विचार, नामक एक लेख लिखकर पृथ्वीराज रासो को प्रामाणिक सिद्ध किया है। आपने ओझा जी की तीन शंकाओं का समाधान बड़े सुंदर ढंग से किया है। वंशावली सम्बन्धी वृत्तांत के विषय में इनका कहना है कि वंशावली 'पद्धति' छन्द में दी गई है इसलिए उसके सत्य मानने में सन्देह ही है। चंद ने रासो में अपने ग्रन्थ के प्रत्येक विषय को स्पष्ट करने के हेतु रासो में प्रयोग किए गए शब्दों की जाति, भाषा, शैली आदि का स्वयं ही उल्लेख कर दिया है। छन्दों की जाति के विषय में रासो में लिखा है—

छंद प्रबंध कवित्त जति, साटक गाह दुहत्थ।
लहु गुरु मंदित खंडि यह पिंगल अमर भरत्थ॥

अर्थात् इस प्रबंध काव्य में कवित्त (छप्पय) साटक (शार्दूल-विक्रीड़ित) गाहा (गाथा) और दोहा नामक वृत्तों का उपयोग हुआ है। इस प्रकार इन चार छंदों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के छंद प्रक्षिप्त और जाली हैं। पद्धरी छन्द, जिसमें चौहानों की वंशावली दी गई है, का इसमें उल्लेख नहीं है अतएव वंशावली को प्रमाणिक सिद्ध करना ही व्यर्थ है क्योंकि वह तो चंद बरदाई द्वारा लिखी ही नहीं गई। परंतु यदि पद्धरी छंद को चंद कृत मान भी लिया जाय तो उसमें ४६ नाम नहीं हैं बल्कि ३० ही हैं; शेष सोलह तो विशेषण मात्र हैं। इसी प्रकार मोहनसिंह जी ने सं० १२२० वाले शिलालेख के आधार पर सिद्ध किया है कि सं० १२१२ के आस पास दिल्ली राज्य करद बना और वि० सं० १२२६ में पृथ्वीराज को मिला। कुतुबुद्दीन ऐबक की मसजिद के अहाते के एक लौह स्तंभ में लिखा हुआ है—"संवत दिल्ली ११०६ अनंगपाल वही"। विद्वानों का मत है वि० सं० ११०६ में अनंगपाल ने दिल्ली को बसाया—यही इस लौहस्तंभ में लिखा हुआ है। परंतु मोहनसिंह जी का कथन है कि संवत् के उपरांत दिल्ली शब्द आने से यह विक्रम संवत् नहीं बल्कि दिल्ली का संवत् है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि दिल्ली के संवत् ११०६ में अनंगपाल ने दिल्ली

को बसाया। अतएव वि० सं० १२०० में आप अनंगपाल का दिल्ली में होना सिद्ध करते हैं। खरतरगच्छ पदावली में भी वि० सं० १२२३ के लगभग मदनपाल को दिल्ली का शासक माना गया है। मोहनसिंह जी मदनपाल को अनंगपाल का पर्यायवाची मानते हैं। आप सोमेश्वर और पृथ्वीराज को समकालीन सिद्ध करते हैं तथा कर्पूरदेवी को पृथ्वीराज की विमाता मानते हैं। अभी मोहनसिंह जी ने अपने लेख का प्रारंभिक अंश ही प्रकाशित कराया है। अतएव हो सकता है आगे चलकर वे रासो को प्रमाणिक सिद्ध करने में पूर्णतः सफल हो सकें।

इस प्रकार रासो की प्रमाणिकता के विषय में विद्वानों में विभिन्न मत हैं। कोई कोई तो इसे मुगल काल की रचना मानते हैं और चंद को पृथ्वीराज का सम कालीन कवि नहीं मानते। परंतु अब प्रमाणों सहित सिद्ध हो चुका है कि चंद बरदाई नाम का कोई कवि था अवश्य और उसने 'पृथ्वीराज रासो' की रचना भी की। 'चंद बरदाई' को 'चंद बलद्दिक' भी लिखा है। चंद रचित पृथ्वीराज रासो में शनैः शनैः परिवर्तन-परिवर्धन होता रहा और फलस्वरूप आज रासो की प्राचीन प्रति उपलब्ध नहीं है। इधर विद्वानों ने रासो के कुछ वृत्तांतों को प्रामाणिक भी सिद्ध कर दिया है। ओझाजी ने 'संयोगिता स्वयंवर' की कथा को अनैतिहासिक माना है जब कि डा० दशरथ शर्मा ने इसे ऐतिहासिक सिद्ध कर दिया है। हो सकता है कि आगे चलकर और भी वृत्तांत शनैः शनैः इसी प्रकार प्रामाणिक सिद्ध हो जावें। रासो की प्राचीन प्रति भी अभी तक उपलब्ध न हो सकी है। कहते हैं कि रासो की सबसे प्राचीन प्रति चंद के वंशज नानूराम के पास है परंतु उन्होंने महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री को 'महोबा समय' की जो नकल दी थी वह तो ऊँट पटाँग और रद्दी है तथा निस्संदेह ही जाली है। उसकी भाषा भी अर्वाचीन ज्ञात होती है।

अतएव इस समय आवश्यकता तो इस बात की है कि रासो की

जो प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध हों उन्हें एकत्र करना चाहिए जिनसे कम से कम भाषा की ही दृष्टि से रासो के विकास पर प्रकाश डाला जा सके।

भाषा

पृथ्वीराज रासो की भाषा पर विचार करने के पूर्व यह ध्यान में रखना चाहिए कि रासो की शुद्ध प्रति का मिलना दुर्लभ ही है। इस समय रासो की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें काफी परिवर्तन-परिवर्धन दृष्टि गोचर होता है। रासो की मूल प्रति जब तक न मिले तब तक चंद बरदाई की भाषा के विषय में अपना मत स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस स्थल पर हम रासो की भाषा के विषय में जो विचार व्यक्त करेंगे वे वर्तमान प्रतियों के आधार पर ही हैं।

पृथ्वीराज रासो की रचना उस समय हुई जब कि हिंदी आरम्भिक अवस्था में ही थी। प्राकृत भाषा का अंत हो रहा था और शनैः शनैः हिन्दी विकसित हो रही थी। रासो पर प्राकृत का प्रभाव भी पड़ा है। चंद बरदाई ने स्वयं अपनी भाषा के विषय में रासो में यह श्लोक लिखा है :—

उक्तिधर्मविशालस्य राजनीतिं नवं रसम् ;
षट्भाषाश्च पुराणञ्च कुरानं कथितं मया ॥

इस श्लोक द्वारा प्रगट होता है कि 'रासो' में षट्भाषा का प्रयोग किया गया है। वंश भास्कर के रचयिता सूर्य मल्ल ने भी अपनी भाषा को षट्भाषा कहा है। इन 'षट्भाषा' में संस्कृत, प्राकृत, व्रजभाषा, अपभ्रंश, पैशाची आदि पाँच भाषाएँ तो स्पष्ट हैं परन्तु छठवीं भाषा के विषय में ठीक ठीक कुछ कहा नहीं जा सकता।

विद्वानों में इस विषय में विभिन्न मत हैं कि रासो की भाषा कौन सी हो सकती है। डा० दशरथ शर्मा और श्री मीनाराम रंगा ने रासो की भाषा के सम्बन्ध में 'राजस्थान भारती' में एक लेख लिखा है।

आप दोनों विद्वानों का कहना है कि मूल रासो अपभ्रंश में लिखा गया था। इन दोनों का कहना है कि बीकानेर की लघुतम प्रति की भाषा में प्राचीन राजस्थानी का पुट है। इस कथन को सिद्ध करने के हेतु आपने रासो की साठ पंक्तियों का रूपांतर भी अपभ्रंश में किया है। एक उदाहरण देखिए :—

रासो (बीकानेर की लघुतम प्रति)	अपभ्रंश में रूपांतर
गाथा	गाहा
के के नगए महि मडु	के के गागय महि मज्झि
ढिल्ली ढिल्लाय दीह होहाय।	ढिल्ली दिल्लाविउ दीह होहाहु।
विहुरंत जासु कित्ती	बिहरइ जाहं तु किंत्ति
तंगया नहि गयाहुँति॥	ते गया णिणहि गयाहवंति॥

रासो की भाषा को पुरानी राजस्थानी सिद्ध करने के लिए आप लोग वही प्रमाण देते हैं कि अपभ्रंश में इसका रूपांतर सरलता से हो सकता है और जनश्रुति भी रासो को राजस्थानी की ही रचना मानती आई है। परंतु श्री नरोत्तमदास स्वामी का कथन है कि जनश्रुति रासो की भाषा को कभी भी राजस्थानी नहीं मानती बल्कि रासो की भाषा को पिंगल की ही रचना मानती आई है। स्वामी जी का मत है कि आधुनिक काल के कुछ विद्वानों ने जो कि डिंगल (प्राचीन राजस्थानी) और पिंगल के वास्तविक भेद से अपरिचित हैं; पिंगल की रचनाओं को भी डिंगल ही समझ लिया। राजस्थान में ही किसी ग्रंथ की रचना होने से वह डिंगल नहीं कहला सकती। श्री मोतीलाल मेनारिया रासो की भाषा को डिंगल मानते हैं परंतु विशुद्ध डिंगल नहीं। आपका कहना है कि उसमें अन्य कई भाषाओं का मिश्रण भी हुआ है।

मि० ग्राउन ने रासो की भाषा को १६ वीं शताब्दी में साहित्य में प्रयुक्त होनेवाली व्रजभाषा माना है। आप रासो की भाषा को न तो अपभ्रंश ही मानते हैं और न प्राचीन राजस्थानी ही। 'गार्सां द तासी' ने रासो की भाषा को कन्नौजी भाषा माना है। भारतीय भाषा के

प्रकांड विद्वान डा० ग्रियर्सन और राजस्थानी के प्रसिद्ध विद्वान डा० टैसीटरी ने भी रासो की भाषा को स्पष्ट रूप से पश्चिमी-हिंदी (व्रजभाषा) माना है। रासो की भाषा का ढाँचा स्पष्ट रूप से व्रज का ही है। छप्पय (कवित्त) की भाषा तो स्पष्ट ही व्रजभाषा है परंतु अन्य छंदों की भाषा अव्यवस्थित सी है। अनावश्यक अनुस्वारों का उपयोग तो किया ही गया है परंतु साथ ही शब्द भी अधिकाधिक विकृत हैं।

पृथ्वीराज रासो में वीर रस की प्रधानता होने से माधुर्य एवं प्रसाद का अभाव है परंतु ओज की बाहुल्यता है। भावानुकूल भाषा लिखने में चंद पटु प्रतीत होते हैं। अनुस्वारांत शब्दों की अधिकता सी है। भाषा में लालित्य लाने के उद्देश्य से कदाचित ऐसा किया गया है। राजस्थानी साहित्य में कई कवियों की भाषा में अनुस्वारों की अधिकता पाई जाती है। चंद की कुछ पंक्तियाँ देखिए, जिन में अनुस्वारांत शब्दों की बाहुल्यता है—

हवक्कें हवक्कें वहैं सेल सेलं, हलक्कें हलक्कें मची टेल ठेलं।
कुकें कूक फूटी सुरताज टारं, थकी जोग माया सुनं अप्प थारं॥
वहैं चट्ट मट्टं उथट्टं उलट्टं, कुलट्टा धरे ध्रप्प अप्पं उहट्टं।
दडक्कं बजै सथ्थ मथ्थं सुट्टं, कडक्कं बजै सेन सेना सुघट्टं॥

चंद ने प्राकृत के प्राचीन रूपों का अनुकरण भी किया है। संस्कृत के शब्द अपने तत्सम रूप में ही कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होते हैं। क्रियाओं के रूप भी कहीं-कहीं अर्वाचीन हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने रासो की भाषा के विषय में लिखा है—"कहीं-कहीं तो भाषा आधुनिक साँचे में ढली सी दिखाई पड़ती है, क्रियाएँ नए रूपों में मिलती हैं। पर साथ ही कहीं-कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में भी पाई जाती है जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिन्ह पुराने ढंग के हैं।"

रासो में फारसी के शब्दों की बाहुल्यता है। 'खान', 'चब्बर', 'हवस', 'आलम' जैसे फारसी शब्दों का निस्संकोच उपयोग किया गया

है। बाबू श्यामसुंदरदास का कहना है कि रासो में १० प्रतिशत विदेशी शब्द हैं। रासो में फारसी शब्दों की अधिकता से बहुत से विद्वानों ने इसे जाली ग्रंथ माना है परंतु इन शब्दों की अधिकता से रासो को जाली कहना उचित नहीं है। शहाबुद्दीन गोरी के करीब दो सौ वर्ष पूर्व ही महमूद गजनवी आक्रमण करने लगा था और पंजाब के कुछ भाग पर मुसलमानों का अधिकार हो भी चुका था। इस प्रकार फारसी शब्दों का प्रचलन था। चंद बरदाई का जन्म लाहौर में हुआ था जहाँ कि मुसलमानों का ही उस समय आधिपत्य था। इस प्रकार फारसी का ज्ञान उन्हें बाल्यकाल से ही हो गया था। अतएव फारसी शब्दों का उपयोग करने से 'रासो' को जाली कहना उचित नहीं है।

इस प्रकार विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चंद ने इस समय की प्रचलित हिंदी में ही अपने काव्य की रचना की है।

कवित्व

चंद बरदाई की कविता के विषय में हम प्रारंभ में ही अपने विचार प्रगट कर चुके हैं। 'पृथ्वीराज रासो' की कुछ काव्यगत विशेषताओं का उल्लेख हमने प्रारंभ में ही किया है अतएव उनका पुनः उल्लेख करना नीरस पिष्टपेषण मात्र ही होगा।

किसी भी कवि के कवित्व पर विचार करते समय हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि कवि ने बाह्य जगत और आभ्यंतरिक जगत का कैसा वर्णन किया है। कवि को बाह्य और आभ्यंतरिक दो प्रकार का सौंदर्य कृतियों में करना चाहिए। चंद ने दोनों प्रकार का सौंदर्य-वर्णन सफलता से किया है। चंद की कल्पना-शक्ति विस्तृत थी। उन्होंने ऐसा कोई भी विषय नहीं छोड़ा जिसका वर्णन रासो में न किया हो। भावव्यंजना में वे पूर्ण सफल रहे हैं। बाह्य सौंदर्य के अंतर्गत जड़ जगत और कृत्रिम जगत दोनों का उन्होंने वर्णन किया है। ऋतु वर्णन

भी उन्होंने किया है। रूप वर्णन भी कलापूर्ण है। कैमास जिस स्त्री पर मोहित होकर कुछ दिनों के लिए पृथ्वीराज का साथ छोड़ कर भीमंग का साथी हो गया था उसका रूप व शील चंद ने इस प्रकार किया है—

चंद वदन, चख कमल, भौंहजनु भ्रमर गंधरत ;
कीर नास, बिंबोष्ठ, दसन दामिनी दमक्कत।
भुज मृनाल, कुच कोक, सिंह लकी, गति वाकन ;
कनक कंति दुति देह, जंघ कदली-दल आकन॥
अलासंग नयन नयनं मुदित, उदित अनंग्रह अंग तिहि ;
आनी सुमंत्र आरंभ घर, देखत भुलत देव जिहि।

प्रभात एवं सूर्य का भी उन्होंने मनोहर वर्णन किया है। पृथ्वीराज के घोड़ों का वर्णन भी बड़ा सुंदर है। रासो में विवाह और युद्ध के वर्णनों की अधिकता है जिनका वर्णन चंद ने पूर्ण सफलता से किया है। 'रासो' में कहीं-कहीं नीति की सूक्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं।

सब प्रकार से विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है चंद एक कुशल कवि थे। जिस प्रकार वाल्मीकि को संस्कृत का आदि कवि कहा जाता है उसी प्रकार हिंदी साहित्य के आदि कवि चंदवरदाई है और 'पृथ्वीराज रासो' उनकी काव्यकला का परिचायक है।

विद्यापति

परिचय

संस्कृत साहित्य में जयदेव का प्रादुर्भाव एक महत्वपूर्ण घटना है। यद्यपि जयदेव से पूर्व संस्कृत में कई प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवि हो चुके थे परन्तु 'जयदेव' का संस्कृत-साहित्य में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि जयदेव ने कालिदास के समान रघुवंश और कुमार सम्भव, भारवि के समान किरातार्जुनीय और माघ के समान शिशुपाल-वध जैसे महाकाव्यों का निर्माण नहीं किया तथापि 'गीत-गोविन्द' का सृजन कर संस्कृत-साहित्य में उत्क्रान्ति सी मचा दी। संस्कृत साहित्य इस समय अपनी समृद्ध दशा में था और सभी क्षेत्रों में आशातीत उन्नति कर रहा था। काव्य का क्षेत्र विकास के पथ पर था तथा गद्य काव्य और नाटकों की भी अभिवृद्धि हुई थी। परंतु जयदेव की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने गीति काव्य की पद्धति ग्रहण की और संस्कृत-साहित्य को गौरवान्वित किया। यद्यपि गीति काव्य की परंपरा उतनी ही प्राचीन है जितना कि वेद क्योंकि ऋगवेद की उषा पर लिखी ऋचाएँ गीति काव्य के अत्युत्तम उदाहरणों में गिनी जाती हैं और सामवेद में भी सुंदर-सुंदर गीत हैं। कालिदास का मेघदूत भी एक सुंदर गीति काव्य है और विक्रमोवर्शी, अभिज्ञान शाकुन्तल, रत्नावली आदि में छोटे-छोटे मधुर गीत दृष्टिगोचर होते हैं। परंतु स्वतंत्र गीति काव्य का जन्मदाता 'जयदेव' को ही मानना होगा। 'गीत गोविंद' में राग रागिनियों से पूर्ण सुललित सुमधुर भाषा के साथ मनोहारिणी भाव व्यंजना भी है।

जयदेव सौंदर्य और प्रेम के कवि थे। राधाकृष्ण के सौंदर्य,

और प्रेम तथा संयोग और वियोग आदि का ही वर्णन उन्होंने गीत गोविंद के प्रत्येक गीत में किया है। शृंगार की अनवरत रसधारा को प्रवाहित करने का श्रेय उन्हें ही देना होगा। जयदेव सर्वप्रथम कवि हैं जिन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेम वर्णन में ही अपनी लेखनी का जौहर दिखाया है। जयदेव के पूर्व भी राधा का उल्लेख कहीं कहीं मिलता है। गाथासप्त शती, सरस्वती कंठाभरण आदि कृतियों में राधा के विषय में श्लोक मिलते हैं। पुरातत्ववेत्ताओं ने भी राधा और कृष्ण की प्रेम लीलाओं के विषय में प्रकाश डाला है। पाँचवीं छठी शताब्दी की देवगिरि और पहाड़पुर की मूर्तियों को पुरातत्ववेत्ता राधा और कृष्ण की प्रेम लीलाओं की ही मूर्ति मानते हैं। (दे० गंगा-पुरातत्वांक-पहाड़पुर की खुदाई-के० एम० दीक्षित) पृथ्वीवल्लभ मुंज के सन् ६७४ ई० तथा सन् ६७६ ई० के ताम्रपत्रों के मंगलाचरण के दो श्लोकों में भी राधा का उल्लेख किया गया है। धारा के अमोघवर्ष के सन् ६८० ई० के शिलालेख में राधा का उल्लेख कृष्ण की प्रेमिका के रूप में हुआ है। (दे० गुजरात और उनका साहित्य के० एम० मुंशी) इस प्रकार साहित्य और पुरातत्व दोनों में राधा का उल्लेख पाया जाता है परंतु राधा और कृष्ण की प्रेम गाथाओं को जो प्रसिद्धि आज प्राप्त है उसका श्रेय जयदेव को ही देना होगा। 'गीत गोविंद' के उपरांत राधा और कृष्ण प्रेम गाथाओं की परंपरा सी प्रारंभ हो गई। हिंदी साहित्य संस्कृत का तो चिरऋणी है ही अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि जयदेव का हिंदी साहित्य पर अत्याधिक प्रभाव पड़ा है। हिंदी में कृष्ण भक्ति विषयक कविताओं का जो स्रोत प्रवाहित हुआ है उसका श्रेय जयदेव को ही प्रदान करना होगा। हिंदी साहित्य में कृष्ण काव्य के जन्मदाता विद्यापति ने 'गीत गोविंद' से ही प्रेरणा ग्रहण कर राधाकृष्ण के सौंदर्य, प्रेम, संयोग तथा वियोग के चित्रों को अपने काव्य में अंकित किया। विद्यापति की पदावली पर जयदेव का अत्याधिक प्रभाव पड़ा है।

विद्यापति का जन्म किस संवत् में हुआ; इस विषय में स्पष्ट रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। उनका समय निर्धारित करने के लिए हमें उनके उन ग्रंथों से ही सहायता लेनी पड़ेगी जिनमें संवत् दिये गये हों। विद्यापति की पदावली में राजा शिवसिंह के सिंहासनारोहण विषयक एक कविता दी हुई है। उसकी एक पंक्ति देखिए—

अनल रंध्र कर लक्खन नरवय सक समुद्द कर अगिनि ससि।

इस पंक्ति से यही ज्ञात होता है कि २६३ लक्ष्मण संवत् और १३२४ शक संवत् या वि० सं० १४५६ में राजा शिवसिंह का राज्यभिषेक हुआ। इस प्रकार वि० सं० १४५६ में विद्यापति का विद्यमान होना सिद्ध होता है। जनश्रुति के अनुसार विद्यापति शिवसिंह से दो वर्ष बड़े थे और शिवसिंह का पचास वर्ष की अवस्था में राज्याभिषेक हुआ था। राजा शिवसिंह ने विद्यापति को विसपी ग्राम दान में दिया था जिसका कि दानपत्र इनके वंशजों के पास है। उस दानपत्र पर सन् २६३ लिखा हुआ है, जो कि लक्ष्मण संवत् ही समझा जावेगा। इस प्रकार विद्यापति का जन्म वि० सं० १४०० मानना पड़ेगा। विद्यापति का निधन सं० १५३२ या इसके आस पास ही माना जाता है। इस प्रकार वि० सं० १४०० से १५३२ वि० सं० को विद्यापति का समय मानने से उनकी आयु १३२ वर्ष ठहरती है। पं० चंद्रबली पांडे ने विद्यापति का समय १४००–१४५० वि० सं० माना है तथा कुछ अन्य विद्वानों ने वि० सं० १४४५–१५३२ तक विद्यापति का समय माना है।

विद्यापति का जन्म मिथिला के विसपी ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम गणपति ठाकुर, पितामह का जयदत्त ठाकुर और प्रपितामह का धीरेश्वर ठाकुर था। विद्यापति के पूर्वज बड़े ही विद्वान और संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। इस प्रकार विद्यापति को कवित्व शक्ति पैतृक ही प्राप्त थी। विद्यापतिराजा श्रित कवि थे। विद्यापति की पदावली में ऐसे पद्य भी दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें राजा शिवसिंह

और रानी लखिमा देवी का उल्लेख हुआ है। शृंगाररस का जहाँ भी वर्णन हुआ है वहाँ विद्यापति ने प्रायः यही लिखा है कि इस रस को राजा शिवसिंह और रानी लखिमा देवी ही जानती है। एक दो उदाहरण देखिए—

राजा शिवसिंह रूप नारायन।
लखिमापति रन जान॥

और भी—

भन कवि विद्यापति कान-रमनि रति कौतुक बुक रसमन्त।
सिव सिवसिंह राव पुरुष सुकृत पाउ लखिमा देइ रानि कन्त॥

अतएव जब कि कवि को रानी लखिमा देवी के विषय में इस प्रकार कहने का अधिकार प्राप्त था तब यही सिद्ध होता है कि राजा शिवसिंह इनका बहुत सम्मान करते थे। विद्यापति ने कीर्तिलता की भी रचना की है। 'कीर्त्तिलता' के आरम्भ में इन्होंने लिखा है—

तिहुअन्न खेत्तहि काजि तसु कित्ति-वल्लि पसरेहि
अक्खर खम्भ रम्मन् मञ्चो बन्दि न देहि।

इसी प्रकार 'कीर्तिलता' के अन्त में भी इन्होंने लिखा है—

एवं संगर साहस प्रमथन प्रालब्ध लब्धोदयाम्,
पुष्णाति श्रियमा शशांक तरिणीं श्री कीर्तिसिंहनृप:
माधुर्य्य प्रसवस्थली गुरुयशोविस्तारशिक्षास्थली
यावद् विश्वमिदं च खेलनकवेर्विद्यापते भीरती

उपर्युक्त दोनों अवतरणों से यही सिद्ध होता है कि विद्यापति ने 'कीर्त्तिलता' की रचना राजा कीर्तिसिंह की कीर्ति को दूर दूर तक फैलाने और अमर करने के लिए ही की थी।

विद्यापति की कविता शृंगार रस प्रधान है अतएव बहुत से विद्वानों का मत है कि ये कामी और विलासप्रिय थे परन्तु यह आक्षेप सत्य नहीं माना जा सकता। विद्यापति ने यद्यपि राधा-कृष्ण विषयक-कविताएँ ही अधिक लिखी हैं परन्तु वे शैवावलम्बी माने जाते हैं। विद्यापति

के विषय में एक कथा भी प्रचलित है। कहते हैं कि राजा शिवसिंह अपनी उदंडता या स्वाभिमान के कारण बंदी की दशा में दिल्ली पहुँच गए थे। विद्यापति को भी चंद बरदाई के सदृश्य अपने स्वामी के उद्धार की सूझी परंतु उन्होंने चंद की युक्ति से काम नहीं लिया। विद्यापति से कहा गया कि यदि तुम वास्तव में कवि हो तो एक ऐसी कामिनी का वर्णन करो जो स्नान करती हो पर जिसको तुम देख नहीं सकते हो विद्यापति ने तुरंत ही कहा—

कामिनि करए सनाने।
हेरि तहि हृदय हनए पंच बाने॥
चिकुर गरए जलधारा।
जनि मुख-ससि डर रोअये अँधारा॥
कुच-जुग चारु चकेवा।
निअ कुल मिलिअ आनि कोन देवा॥
ते संका भुज-पासे।
बाँधि धएल उड़ि जाएत अकासे॥
तितल बसन तनु लागू।
मुनि हुक मानस मनमथ जागू॥
भनई विद्यापति गावे।
गुनमति धनि पुनमत जन पावे॥

इस प्रकार राजा शिवसिंह को बिना एक बूँद रक्त बहाए अपना राज्य वापिस मिल गया। साथ ही इस पद्य द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि विद्यापति कामी और विलासप्रिय नहीं थे।

विद्यापति को आशातीत लोकप्रियता प्राप्त हुई है। उनकी काव्य माधुरी और सुललित भाषा पर मुग्ध होकर विद्यापति को अभिनव जयदेव, सुकवि कण्ठहार, कवि शेखर और कवि रंजन आदि कई उपाधियाँ प्रदान की गई। विद्यापति ने पदावली में लोक जीवन को अपनाया है और लोक जीवन को अपनाने की इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप

विद्यापति के अनेक पद लोकगीतों के रूप में प्रचलित हो गये हैं। त्योहारों तथा मंदिरों में भी विद्यापति के पद गाये जाते हैं। यद्यपि विद्यापति ने अपनी रचनाएँ अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा के ही हेतु लिखी थीं पर उन्हें कोरी प्रशस्तियाँ मात्र मानना अनुचित है। विद्यापति शिवसिंह को शिव का अवतार मानते थे और रस को बूझनेवाला भी। उन्होंने लिखा भी है—

भनइ विद्यापति कवि कण्ठहार।
रसबुझ सिवसिंह सिव अवतार॥

कदाचित इसीलिए उन्होंने पदावली में शिवसिंह का बार-बार उल्लेख किया है।

भाषा

भाषा की दृष्टि से विद्यापति की कृतियाँ संस्कृत, अवहट्ठ (अपभ्रंश) और देशी नामक तीन भागों में विभाजित की जा सकती हैं। विद्यापति संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे। संस्कृत में उनकी निम्नांकित रचनाएँ लिखी गई हैं—(१) भू परिक्रमा (२) पुरुष परीक्षा (३) लिखनावली (४) शैव-सर्वस्व-सार (५) प्रमाण भूत-पुराण संग्रह (६) गंगा वाक्यावली (७) विभाग सार (८) दान वाक्यावली (९) दुर्गा भक्ति तरंगिणी (१०) वर्ष कृत्य (११) गया पत्तलक (१२) पाडव विजय। उनकी संस्कृत की रचनाओं पर विचार करने से यही प्रकट होता है कि विद्यापति का संस्कृत पर पूर्ण आधिपत्य था। यह अवश्य है कि इनमें की कुछ रचनाएँ उपदेश के विचार से लिखी गई, कुछ व्यवहार की दृष्टि से और कुछ कर्म-कांड की दृष्टि से। शुद्ध काव्य सौंदर्य को दिखलाने का प्रयास इन रचनाओं में नहीं किया गया पर भाषा की दृष्टि से ये रचनाएँ सिद्ध करती हैं कि विद्यापति को संस्कृत का पूर्ण ज्ञान था। परन्तु विद्यापति की हृदय से यही अभिलाषा थी कि वे देशी भाषा को अपनावें। 'कीर्तिलता' में भाषा के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है—

सक्कय वाणी बहुइ न भावइ,
पाउँआ रस को मम्म न पावइ ;
देसिल बअना सब जन मिट्ठा,
तँअ तैसन जम्पओं अवहट्ठा।

अर्थात् संस्कृत वाणी अधिकतर लोगों को पसंद नहीं सिर्फ बुद्धिमान पंडित ही उसे पसंद करते हैं और प्राकृत रस का मर्म नहीं पाती। देशी भाषा सबको मधुर लगती है इसलिए इस कीर्तिलता की रचना अवहट्ठ में की गई है।

उपर्युक्त अवतरण द्वारा विदित होता है कि विद्यापति के समय में संस्कृत के प्रति बहुत से विद्वान अरुचि प्रदर्शित करने लगे थे। प्राकृत के विषय में विद्यापति का कहना है कि उसमें रस की धार नहीं बह सकती। यदि इस समय लोगों की रुचि किसी भाषा में है तो वह देशी भाषा के प्रति है। वह सबको मधुर लगती है। परंतु एक भाषा और है जिसे भी लोग मधुर कहते हैं और वह भाषा अवहट्ठ है। विद्यापति ने अवहट्ठ को प्राकृत की श्रेणी में न रख देशी भाषा की श्रेणी में माना है। अवहट्ठ अपभ्रंश का ही रूपांतर है। नमि साधुजी ने 'काव्यालंकार' की टीका में 'षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश-विशेषादपभ्रंशः' की व्याख्या करते हुए 'आभीरी' के प्रसंग में लिखा है 'आभीरी भाषा अपभ्रंशस्थाकथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते।' इससे पता चलता है कि एक ही अपभ्रंश के देश विशेष के अनुसार बहुत से भेद हो गए थे और उन्हीं भेदों में से एक का प्रचार मगध में भी था। नमिसाधु के समय (नवीं सदी) में जिस अपभ्रंश का प्रचार मगध में था, शनैः-शनैः वह अब पर्याप्त मात्रा में चारो ओर फैल रही थी। विद्यापति ने अपभ्रंश के इस बढ़ते हुए प्रचार को देखकर ही अपनी काव्य रचना का प्रारंभ अवहट्ठ (अपभ्रंश) में किया। कीर्तिलता के आरंभ और अंत में उन्होंने लिखा भी है कि कीर्तिसिंह नृप के यश का दूर-दूर तक प्रचार करने के लिए उन्होंने कीर्तिलता की रचना अवहट्ठ में की।

विद्यापति के अपभ्रंश में कुछ अपनी खास विशेषताएँ भी हैं। विद्यापति ने जिस समय कीर्त्तिलता और कीर्त्तिपताका की रचना की उस समय देश भाषा का भी प्रचार हो चुका था और काव्य भाषा का स्थान देश भाषा ने ग्रहण कर लिया था। इस प्रकार अपभ्रंश पर देश भाषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। आचार्य शुक्लजी ने इसी लिये विद्यापति की अपभ्रंश के विषय में लिखा है कि इस अपभ्रंश की विशेषता यह है कि यह पुरबी अपभ्रंश है। विद्यापति की अपभ्रंश में क्रियाओं आदि के बहुत से रूप पूर्वी हैं। एक उदाहरण देखिए—

रज्ज-लुद्ध असलान बुद्धि विक्कम बले हारल।
पास बइसि विसवासि राय गयनेसर मारल॥
मारंत राय रणरोल पड़, मेइनि हा-हा सद्द हुअ।
सुरराय नयर नरअर-रमणि वाम नयन पप्फुरिअ धुअ॥

साथ ही विद्यापति के अपभ्रंश में तत्सम संस्कृत शब्दों का उतना अधिक बहिष्कार नहीं पाया जाता जितना कि विद्यापति के पूर्व के कवियों में दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार देश भाषा का विद्यापति की अपभ्रंश पर अत्याधिक प्रभाव पड़ा है। एक उदाहरण देखिए—

पुरिसत्तेण पुरिसउ, नहिं पुरिसउ जम्म मत्तेण।
जलदानेन हु जलओ, न हु जलओ पुंजिओ धूमो॥

अब विद्यापति की देश भाषा पर विचार किया जाय। विद्यापति को जो प्रसिद्धि आज प्राप्त है वह इन अपभ्रंश की रचनाओं के कारण नहीं बल्कि देशी भाषा में लिखी पदावली के कारण। विद्यापति ने अपने समय की प्रचलित मैथिली भाषा में अपनी पदावली की रचना की है। मैथिली भाषा को अपनाने से बंग भाषावाले विद्यापति को अपना कवि मानते हैं। परंतु वास्तव में वे हिंदी के ही कवि हैं। यद्यपि सरजार्ज ग्रियर्सन जैसे विद्वानों ने भी बिहारी और मैथिली को हिंदी से अलग माना है परंतु भाषा शास्त्र की ही दृष्टि से किसी कवि की काव्य भाषा पर विचार कर यह कहना कि उसकी भाषा अमुक देश की है,

उचित नहीं जँचता। पदावली की भाषा का जितना मेल अवधी से है उतना बँगला से नहीं। जब कि राजस्थानी, कन्नौजी, खड़ी बोली और ब्रज आदि के रूपों और प्रत्ययों का पारस्परिक गहरा मतभेद है परंतु तो भी ये सब भाषाएँ हिंदी के ही अंतर्गत हैं तब पदावली की भाषा हिंदी से विलग कैसे मानी जा सकती है। जब कि बीसलदेव रासो और खुमान रासो पर हिंदी साहित्य अपना अधिकार रखता है। तब पदावली पर उसका अधिकार क्यों न हो। विद्यापति की पदावली की भाषा में पूर्वी हिंदी की क्रियाओं और कारकों के रूप जैसे के तैसे मिलते हैं। जिस प्रकार मैथिली में स्वरों को अलग-अलग रहने की प्रवृत्ति है वही पूर्वी हिंदी में भी है। हिंदी के अनुकूल ही सर्वनामों के रूप भी विद्यापति की पदावली में मिलते हैं। इस प्रकार पदावली की भाषा बंगला से अधिक हिंदी के सन्निकट है।

पदावली की भाषा सुमधुर और सरस है। संस्कृत के तत्सम शब्द भी कहीं-कहीं विद्यमान हैं। भावानुकूल भाषा का ही प्रयोग किया गया है। यद्यपि मैथिली भाषा उस समय नई-नई थी परंतु विद्यापति की पदावली की भाषा को देखकर यही समझ पड़ता है कि पदावली की भाषा में प्रौढ़ता विद्यमान है। कहीं-कहीं शब्दयोजना इतनी सुमधुर और सरस है कि देखते ही बनता है। कोमलकांत पदावली ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। एक उदाहरण देखिए—

नव वृन्दावन नव-नव तरुगण, नव-नव विकसित फूल।
नवल वसन्त, नवल मलयानिल, मातल नव अलिकूल।
विहरई नवलकिशोर।
कालिन्दी पुलिन कुन्जवन शोभन नव-नव प्रेम विभोर॥

विद्यापति की रचनाओं में सर्वत्र माधुर्य और प्रसाद गुणों की अधिकता है। ओज यदि देखना हो तो वह उनकी अपभ्रंश की रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। उपमा और रूपक अलंकारों की भी अधिकता है। अतिशयोक्ति के भी सुंदर-सुंदर उदाहरण दृष्टिगोचर

होते हैं। विद्यापति को अपनी भाषा की मधुरता के विषय में स्वयं गर्व है। कीर्तिलता में उन्होंने लिखा है कि बालचंद्रमा और विद्यापति की भाषा इन दोनों को दुर्जनों की हँसी कलंकित नहीं कर सकती। देखिए—

बालचंद विज्जावइ भाषा।
दुहु नहिं लग्गइं दुज्जन हासा॥
श्रो परमेसर हर शिर सोहइ।
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ॥

वास्तव में विद्यापति की भाषा विद्यापति के कथन के अनुकूल ही है।

काव्य-सौंदर्य

यद्यपि दोहा, चौपाई, छप्पय, छंद, गाथा आदि छंदों में और अपभ्रंश भाषा में विद्यापति ने 'कीर्त्तिलता' तथा 'कीर्त्तिपताका' की रचना की है परंतु विद्यापति की प्रसिद्धि पदावली के ही कारण प्राप्त हुई है। अपभ्रंश की उन दोनों छोटी-छोटी पुस्तकों में राजा कीर्तिसिंह की वीरता, उदारता आदि का ही वर्णन किया गया है तथा शुद्ध काव्य की दृष्टि से उनका कुछ महत्त्व नहीं है।

यह हम प्रारंभ में ही लिख चुके हैं कि विद्यापति की पदावली पर जयदेव के गीत गोविंद का प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार जयदेव ने गीत गोविंद में राधाकृष्ण के सौंदर्य और प्रेम से परिपूर्ण चित्रों को ही चित्रित किया है उसी प्रकार विद्यापति ने भी पदावली में राधाकृष्ण के सौंदर्य और प्रेम के चित्रों को ही प्रधानता दी। विद्यापति के पद तीन श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं—शृंगार संबंधी, भक्ति संबंधी, और विविध। विविध के अंतर्गत उन पदों को लिया जावेगा जिनमें राजा शिवसिंह के राज्याभिषेक का वर्णन है और प्रहेलिका तथा कूट भी इसी श्रेणी के अंतर्गत हैं। भक्ति संबंधी पदों में शिव की नचारियाँ, गंगा, दुर्गा और गौरी की प्रार्थनाएँ हैं। विद्यापति की लिखी हुई शिव

की नचारियाँ मंदिरों में अभी भी गाई जाती हैं। विद्यापति को भक्त भी कहा जाता है परंतु थे वे श्रृंगारी कवि ही। यदि थोड़े से भक्ति विषयक पदों के सहारे ही विद्यापति भक्त माने जाते हैं तो फिर बिहारी और देव को भी भक्त स्वीकार करना होगा। विद्यापति ने भक्ति में भी श्रृंगार की छटा दिखलाने का प्रयास किया है। पयोधरों को स्पर्श करती हुई मोतियों की माला विद्यापति को ऐसी प्रतीत होती है मानो शंकर के शीश पर सुरसरि की धारा प्रवाहित हो रही है—

गिरिवर-गरुअ पयोधर-परसित
गिम गज-मोतिक हारा।
काम कम्बु भरि कनक संभु-परि
ढारत सुरसरि धारा॥

इस प्रकार विद्यापति श्रृंगार के अत्याधिक प्रेमी प्रतीत होते हैं। भक्ति विषयक रचनाओं की न्यूनता तो है ही और इन थोड़ी सी रचनाओं के सहारे ही उन्हें भक्त कहना उचित भी नहीं जँचता।

अग्नि पुराण में लिखा है कि यदि कवि श्रृंगारी होता है तो उसके काव्य से विश्व रसमय हो जाता है परंतु यदि वह वीतरागी होता है तो सब ओर नीरसता फैल जाती है।

श्रृंगारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स चेत् कविर्वीतरागी नीरसं व्यक्तमेवतत्॥

नाट्य शास्त्र के आचार्य महामुनि भरत ने भी जो कुछ लोक में पवित्र, श्रेष्ठ, शुभ्र और दर्शनीय है उसे श्रृंगार रस माना है।

यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्य मुज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते।

श्रृंगार के महत्त्व को हम भी स्वीकार करते हैं और काव्य में श्रृंगार का वर्णन करना अनुचित नहीं समझते। श्रृंगार का स्थायी भाव प्रेम है। विश्व के सभी कवियों ने प्रेम का वर्णन किया है। विश्व के अणु-अणु में व्याप्त प्रेम-रस की सुधामयी सुमधुर अविरल धारा को प्रवाहित करना ही विश्व के प्रधान कवियों का ध्येय कहा है। महाकवि Baily

का कथन है कि वे सब कवि हैं जो प्रेम करते हैं और जो महान सत्यों
की मानस में अनुभूति करते हैं और उन्हें प्रकट करते हैं। प्रेम ही सत्य
का सत्य अर्थात् परम सत्य है। देखिए—

Poets are all who love, who feel great truths;
And tell them, and the truth of truth is love.

सौंदर्य प्रेम का सहायक है। दीपक के सौंदर्य पर मुग्ध होकर पतंग
अपने आपको अग्नि को समर्पित कर देता है। चकोर चंद्रमा
की ओर इकटक देखता है। मतवाले मेघों की मंजु छवि को निहार
मयूर भी उन्मत्त हो नृत्य करने लग जाता है। रसाल मंजरी की
रूप माधुरी को निहार कोकिला भी गीत गाने लग जाती है।
इस प्रकार सौंदर्य का पशु पक्षियों दोनों पर प्रभाव पड़ता है।
सौंदर्य ही प्रेम की उत्पत्ति करता है। अंग्रेज कवि इमर्सन (R. W.
Emerson) का कथन है कि यदि संतजन पूछें कि सौंदर्य वसुधा
और गगन में व्यर्थ क्यों बिखेर दिया गया है तो उन्हें मेरी प्रिये
कहो कि यदि आँखें देखने के हेतु बनी हैं तो सौंदर्य भी उन्हीं के
लिए बना है:—

Rhodra! if the sages ask thee why This
charm is wasted on the earth and sky? Tell
them, dear, that if eyes are made for seeing hen
beauty is its own excuse for being.

इस प्रकार सौंदर्य और प्रेम काव्य के प्रधान विषय कहे जा सकते
हैं। विद्यापति के काव्य के भी प्रधान विषय सौंदर्य और प्रेम ही हैं।
शृंगार संबंधी उनकी रचनाओं में सौंदर्य और प्रेम का ही वर्णन
किया गया है। सौंदर्य वर्णन में विद्यापति को अप्रतिम सफलता प्राप्त
हुई है। विद्यापति ने प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति उदासीनता ही प्रगट की
है; हाँ मानव सौंदर्य का वर्णन उन्होंने अवश्य कलापूर्ण किया है।
ऋतुओं का वर्णन उन्होंने उद्दीपन की दृष्टि से किया है राधा और

कृष्ण का रूप वर्णन उन्होंने बड़ा ही सुंदर किया है। सौंदर्य-वर्णन का एक उदाहरण देखिए:—

ए सखि ! पेखलि एक अपरूप
सुनइत मानबि सपन सरूप
कमल-जुगल पर चाँदक माला
ता पर उपजल तरुन तमाला
ता पर बेढ़लि बिजुरि-लता
कालिन्दी तट धीरे चलि जता
साखा सिखर सुधाकर पाँति
ता हि नव पल्लव अरुनक भाँति
बिमल बिंबफल जुगल बिकास
ता पर कीर थीर करु बास
ता पर चंचल खंजन-जोर
ता पर साँपिनि झाँपल मोर
ए सखि-रंगिनि कहल निसान
हेरइत पुनि मोर हरल गिआन

रूपअतिशयोक्ति में विद्यापति को अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है। साहित्य-सूर्य सूरदास ने भी रूप वर्णन बड़ा ही कलापूर्ण किया है। उनका निम्नांकित पद देखिए:—

अद्‌भुत एक अनूपम बाग;
जुगुल कमल पर गजवर क्रीड़त, ता पर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग;
रुचिर कपोत बसत ताऊपर, ताहू पर अमरित-फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पालव, ता पर सुक, पिक, मृगमद काग;
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर एक मनिधर नाग।
अंग-अंग प्रति और-और छवि, उपमा ताको करत न त्याग;
'सूरदास' प्रभु पियहु सुधा-रस, मानहु अधरन को बड़ भाग।

विद्यापति की पदावली में सौंदर्य वर्णन के कई अत्युत्तम उदाहरण मिलते हैं। एक स्थल पर सौंदर्य वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि जहाँ जहाँ नायिका चरण रखती है वहीं वहीं कमल झर उठते हैं। चरणों की छाप ऐसी जान पड़ती है मानों कमल हों। जहाँ जहाँ अंग झलकते हैं वहीं वहीं विद्युत की तरंग सी उठती है:—

जहाँ जहाँ पग-जुग धरइ।
तहिं-तहिं सरोरुह झरइ॥
जहाँ जहाँ झलकत अंग।
तहिं-तहिं बिजुरि-तरंग॥

नारी सौंदर्य के अंतर्गत उन्होंने वक्ष-सौंदर्य का भी वर्णन किया है। रमणी ने अपने कुचों को कमल करों से ढांक लिया, इस प्रकार नखों में सुधाकर हाथों में सरोज और कुचों में शिव का दर्शन कवि को हुआ। देखिए:—

अम्बर बिघटु अकामिक कामिनि कर कुच झाँपु सुछन्द।
कनक-संभु सन अनुपम सुंदर दुइ पंकज दस चंद॥

इस प्रकार भावव्यंजना में विद्यापति पूर्ण सफल प्रतीत होते हैं। सौंदर्य-वर्णन के सदृश्य ही प्रेम वर्णन में भी विद्यापति को सफलता प्राप्त हुई है। प्रेम का इतना मनोरम वर्णन उन्होंने किया है कि उनकी कल्पना शक्ति की प्रशंसा मुक्त कंठ से करनी ही पड़ती है। संयोग और वियोग दोनों का हृदय स्पर्शी वर्णन उन्होंने किया है।

वियोगिनी का जब उसके प्रिय से संयोग होता है तब वह फूली नहीं समाती। उसका मनमयूर प्रफुल्लित हो नृत्य करने लग जाता है। वह कह उठती है:—

आजु हम गेह-गेह करि मानलु, आजु मोर देह भेल देहा।
आज बिही मोर अनुकूल होएल, टुटल सबहु संदेहा॥
सोई कोकिल अब लाखहि डाकव, लाख उदय करु चंदा।
पाँच बाण अब लाख बाण हउ, मलय पवन बहु मंदा॥

युवक युवतियों के यौवन की शृंगारी प्रेम लीलाओं का वर्णन विद्यापति ने अपने पदों में बड़े ही सुंदर ढंग से किया है। उनके ये प्रेम गीत विश्व में उस समय तक अमर रहेंगे जब तक विश्व में प्रेम विद्यमान है। संयोग वर्णन में उनकी काव्यकला कुशलता स्पष्ट लक्षित होती है। संयोग के समान वियोग वर्णन में भी ये सफल रहे हैं। वियोगिनी राधा का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं—

माधव से अब सुंदरि बाला।

अविरल नयन बारि झरनीकर जनु सावन घन माला॥
पुनि मक इन्दु बिंदु मुख सुंदर सो भेला अब ससि-रेहा।
कलेवर कमल कांति जिनि कामिनि दिन-दिन खिन भेल देहा॥
उपवन हेरि मुरछि पडु भूतल चिंतित सखिनन संगा।
पद अंगुलि दर छिति पर लीखइ पनि कपोल अवलंबा॥
गेलन हेरि तुरितु हम आयनु अब तुहु करह बिचार?
विद्यापति कह निकरुन माधव बूझन कुलिसक सार॥

आचार्य मम्मट ने लिखा है कि उत्तम देवताओं का संभोग शृंगार वर्णन करना उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार माता पिता का संभोग शृंगार वर्णन उचित नहीं कहा जा सकता—

रतिः संभोग शृंगाररूपा उत्तम देवताविषयान वर्णनीया, तद् वर्णनं हि पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यमनुचितम्।

साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ का भी यह मत है कि प्रकृति के अनुरूप वर्णन न करने से प्रकृति विपर्यय दोष होता है, जैसा कि कुमार संभव में उत्तम देवता शंकर और पार्वती का संभोग शृंगार वर्णन करना उचित नहीं है—

यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः—यथा कुमार संभवे उत्तमदेवतयोः पार्वती परमेश्वरयोः संभोगशृंगारवर्णनम्।

शृंगार रस का वर्णन करना अनुचित नहीं कहा जा सकता परंतु शृंगार के बहाने अश्लीलता का प्रचार करना कवियों के लिए उचित

नहीं है। अश्लील भावों से परिपूर्ण कविता लिखना कविता के मूल पर कुठाराघात करना है। इससे तो उत्तम यही है कि कविता लिखी ही न जाय। किसी कवि ने लिखा भी है—

असभ्यार्थमभिधायित्वा नोपदेष्टव्यं काव्यम्।

अतएव शृंगार रस का दुरुपयोग करना कविता कामिनी के कलेवर को कलंकित करना ही है। जयदेव का गीतगोविंद कला की दृष्टि से उत्कृष्ट कहा जा सकता है परंतु कुरुचि उत्पादक पदों की उसमें न्यूनता नहीं है। गीतगोविंद की भाँति विद्यापति की पदावली में भी कुरुचि उत्पादक पद दृष्टिगोचर होते हैं। राधा-कृष्ण का सौंदर्य और प्रेम वर्णन करते समय कवि ने कहीं कहीं निरी वासना मूलक रचनाएँ ही लिखी हैं। हिंदी में विद्यापति को कृष्ण काव्य का जन्मदाता माना जाता है। विद्यापति की पदावली का कृष्ण विषयक कविताओं पर प्रभाव पड़ा है। रीति-कालीन कवियों की रचनाओं में जहाँ अश्लीलता पूर्ण चित्रों की बाहुल्यता सी दृष्टिगोचर होती है वहाँ इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि रीतिकालीन कवि पदावली का आधार मान कर चले हैं। अर्थात् अश्लीलता का बीजारोपण पदावली में हुआ और वे बीज आगे चलकर शनैः शनैः रीति काल में पल्लवित हुए। इस प्रकार पदावली जहाँ काव्य सौंदर्य की दृष्टि से उत्कृष्ट रचना है वहाँ यह भी स्वीकार करना ही पड़ेगा कि रीतिकालीन कवियों में जो अश्लीलता दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण विद्यापति की पदावली ही है।

परन्तु काव्यगत विशेषताओं की दृष्टि से पदावली का हिंदी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। रसव्यंजना, भावव्यंजना और भाषा सौंदर्य आदि काव्य के समस्त गुण पदावली में दृष्टिगोचर होते हैं। वास्तव में विद्यापति एक सफल कवि थे और उनकी काव्यकला निस्संदेह सराहनीय है गोविंददास ने विद्यापति की उचित वन्दना ही की है। देखिए:—

कवि पति विद्यापति मतिमान ।
जाक गीत जग चित चोरायल गोविंद गौरि सरस रस गान ॥
भुवने छवि जत भारती वानि ।
ताकर सार सार-पद सञ्चए बाँधल गीत कतहुँ परिमानि ॥
आनंदे नारद ने धरि थेहा ।
से आनंद रस जग भरि बरिसल सुखमय विद्यापति रस येहा ॥
जत जत, रस पद कएलन्हि बंधे ।
कोटिहि श्रवण फल पाइय सुनइत आनंद लागल धंधे ॥

विद्यापति के काव्य सौंदर्य पर मुग्ध होकर विद्वानों ने उन्हें मैथिल कोकिल कहा है परंतु हमारी समझ में तो यही आता है कि विद्यापति को मैथिल कोकिल न कह कर हिंदी कविता कानन की कोकिला कहना अधिक उचित है ।

कबीर

परिचय

प्रारंभ में ही चंद बरदाई के परिचय में हमने लिखा है कि हर्षवर्धन के राज्यकाल में ही गान्धार, काश्मीर तथा पंजाब से लेकर मथुरा तक हीनयान के स्थान पर महायान बौद्ध धर्म की स्थापना हो चुकी थी। सातवीं-आठवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म विकृत हो चुका था और अब मंत्रयान, वज्रयान तथा सहजयान संप्रदाय के रूप में परिवर्तित हो चला था। भारतवर्ष के पूरबी भागों में वज्रयान संप्रदाय का प्रचार अधिकता से हो रहा था और ये बौद्ध तांत्रिक अब सिद्ध कहलाने लगे थे। जनता पर इन सिद्ध योगियों का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता था और ये सिद्ध योगी प्रसिद्ध भी हो चले थे। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में से हुए हैं। वज्रयान शाखा के इन सिद्धों ने अपने मत का प्रचार करने के लिए संस्कृत, अपभ्रंश और अपभ्रंश मिश्रित देश भाषा में कुछ रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य जी ने सिद्धों में सबसे प्राचीन सिद्ध का काल वि० सं० ६६० निश्चित किया है। इन सिद्धों ने अंतस्साधना पर जोड़ दिया और पंडितों को कड़ी फटकार सुनाई।

चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ को भी गिना जाता है परंतु वे इन सब सिद्धों से अलग हो गए थे और उन्होंने नाथपंथ की स्थापना की। गोरख ने हठयोग की साधना की ओर जनता को प्रेरित किया। इनके धर्म का प्रचार राजपूताने और पंजाब में अधिक हुआ। नाथपंथ की ओर हिंदू-मुसलमान दोनों ही आकर्षित हुए क्योंकि नाथपंथ में तीर्थयात्रा और वेदों का अध्ययन व्यर्थ माना गया है तथा मूर्तिपूजा

और बहुदेवोपासना को भी आवश्यक न समझा गया। ईश्वर की साधना के हेतु मानस को मुकुर माना गया है जिसमें आत्मा के स्वरूप का प्रतिबिंब दृष्टिगोचर होता है:—

हृदयं दर्पणं यस्य मनस्तत्र विलोकयते।
दृश्यते प्रतिबिंबेन आत्मरूपं सुनिश्चितम्॥

इस प्रकार मुसलमानों की रुचि इस संप्रदाय की ओर होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। मूर्तिपूजा, बहुदेवोपासना तीर्थयात्रा और वेदशास्त्रों के अध्ययन को व्यर्थ मानने से मुसलमानों के लिए आपत्तिजनक बातें कुछ न रहीं। साथ ही सिद्धों ने जाति-पांति के भेद भाव को मिटा शूद्रों को भी गले से लगाया। चौरासी सिद्धों में अधिकांश चमार, धोबी, कहार, डोम सरीखे शूद्र कहे जानेवाले लोग भी थे। इस प्रकार नीची जाति के हिंदू इस संप्रदाय की ओर भारी संख्या में आकर्षित हुए। नाथपंथियों ने वज्रयानी सिद्धों की भाँति नाद और बिंदु के योग से विश्व की उत्पत्ति मानी है:—

नार्यांशो नादो, नादांशः प्राणः ; शक्त्यंशो बिंदु बिंदोरंशः शरीरम्

सिद्धों की कुछ पुस्तकें भी प्रचलित हुईं जिनमें प्रायः जाति-पांति, तीर्थाटन मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासना आदि के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की जाती तथा रहस्यवादी बनकर शास्त्रों का तिरस्कार किया जाता और रूपकों के सहारे पहेलियाँ बुझाने का प्रयत्न किया जाता। 'नाद' 'बिंदु' आदि शब्दों का प्रचार हुआ। अतएव काव्य सौंदर्य की दृष्टि से सिद्धों की रचनाओं का महत्व चाहे कुछ भी न हो परंतु तत्कालीन धार्मिक दशा का पता इनसे चल सकता है। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आगे चलकर सिद्धों के इन विचारों का प्रभाव भक्तिकालीन कवियों पर पड़ा। भाषा की दृष्टि से भी ये रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं। इन रचनाओं की भाषा देश भाषा मिश्रित अपभ्रंश ही है अर्थात् पुरानी हिंदी इनकी काव्य भाषा है। इस प्रकार हिंदी साहित्य में इनका भी महत्व है।

है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और बाबू श्यामसुंदर दास जी ने कबीर का जन्म काल जे०सुदी पूर्णिमा सोमवार विक्रम संवत १४५६ माना है और मृत्युकाल वि० सं० १५७५ माना है। डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने १४२७ वि० सं० के आस पास कबीर का जन्म माना है। पं० चंद्रवली पांडे ने कबीर का निधन सही संवत १५०५ माना है। हमारी समझ में हरिऔध जी के माने हुए संवत उचित कहे जा सकते हैं। मिश्रबंधुओं ने भी हरिऔध जी का समर्थन किया है। कबीर कसौटी में जन्म काल साफ-साफ संवत १४५२ की ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा लिखा है और भक्ति-सुधा-बिंदु-स्वाद में उसी प्रकार साफ साफ लिखा है कि "श्री कबीर जी संवत १५४६ में मगहर गए। वहीं से संवत १५५२ की अगहन-सुदी एकादशी को परमधाम पहुँचे।"

कबीर की उत्पत्ति के विषय में कई जन श्रुतियाँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि कबीर एक विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे जिसने जन्मते ही अपने पुत्र को लहरतारा के ताल के पास फेंक दिया। नीरन नाम के जुलाहे ने उस बालक को लाकर पाला पोसा और यही बालक कबीर दास कहलाया। मिश्रबंधुओं ने इस कथा को मनगढ़ंत माना है। उनका कहना है कि कबीर वास्तव में नीरन जुलाहा के ही पुत्र थे। शनैः शनैः अधिकांश विद्वानों ने यही मान लिया है कि कबीर वास्तव में जन्म से ही जुलाहा थे। डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल और श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी इन्हें जुगी-जुलाहा कुल की संतान मानते हैं। श्री रामकुमार वर्मा भी इसे ठीक समझते हैं। पं० चंद्रवली पांडे जी की यह धारणा है कि कबीर कट्टर जुलाहा कुल में उत्पन्न हुए थे और वे जुगी जुलाहा कुल में उत्पन्न नहीं हुए। कबीर ने बार बार अपने को जुलाहा ही कहा है:—

तू ब्राह्मन मैं काशी क जुलहा बूझौं मोर गियाना।

कहते हैं कि शैशवावस्था में ही कबीर हिंदू धर्म की ओर आकर्षित हो चले थे। वे राम राम का जप करते और कभी कभी माथे में तिलक

भी लगा लेते थे। कबीर ने रामानंद स्वामी को अपना गुरु बनाया। रामानंदजी की महिमा को सुनकर कबीर के मानस में उनका शिष्य बनने की लालसा उत्पन्न हुई। स्वामी रामानंद एक जुलाहे मुसलमान को अपना शिष्य बनाने के लिए तैयार न थे अतएव कबीर एक दिन एक पहर रात रहते ही मणिकर्णिका घाट की सीढ़ियों पर लेट रहे। स्वामी रामानंदजी नित्य सूर्योदय से पूर्व स्नान करने के लिए मणिकर्णिका घाट जाया करते थे। स्नान को जाते समय अंधकार में स्वामीजी का पैर भूल से कबीर के ऊपर पड़ गया। स्वामीजी ने यह सोचकर कि भूल से अँधेरे में किसी आदमी पर पैर पड़ गया है, 'राम' कहा। कबीर ने इसी 'राम' को गुरु मंत्र मान लिया। जब स्वामीजी के पास यह समाचार पहुंचा कि कबीर अपने आपको रामानंदजी का शिष्य कहता है तब उन्होंने कबीर को बुलवाया। कबीर ने कहा कि औरों को कान में गुरु मंत्र दिया जाता है पर मुझे आपने सिर पर पैर रखकर मंत्र दिया है। कबीर की इस अटल भक्ति को देखकर स्वामी रामानंदजी ने उन्हें गले से लगा लिया। यह कथा चाहे सत्य हो या असत्य पर कबीर ने स्वयं ही अपने को रामानंदजी का शिष्य माना है और रामानंदजी की बड़ी प्रशंसा की है:—

कासी में हम प्रगट भए हैं रामानंद चेताए।

और:—

भली भई जु गुर मिल्या नहिं तर होती हांणि।
दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड़ता पूरी जांणि॥

और भी:—

सद्गुरु के परताप तें, मिटि गयो सब दुख-दंद।
कहकबीर दुविधा मिटी, गुरु मिलिया रमानंद॥

कबीर पंथी मुसलमानों का कहना है कि कबीर शेख तकी के शिष्य थे परंतु इसका कोई समुचित प्रमाण नहीं मिलता।

कबीर का विवाह भी हुआ था। उन्होंने स्वयं लिखा है:—

नारी तो हम भी करी, जाना नाहिं विचार।
जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥

एक दिन भ्रमण करते हुए गंगा के किनारे एक वनखंड बैरागी के स्थान पर कबीर पहुंचे। वहाँ एक २० वर्षीय युवती ने आपका स्वागत किया। यह उस वनखंड बैरागी की प्रतिपालिता सुता थी। बैरागी ने इसे गंगा के किनारे पड़ा हुआ पाया था। थोड़ी देर बाद वहाँ और भी साधू आ पहुंचे। अतिथियों का सत्कार करने के हेतु वह युवती एक पात्र में दूध लाई। साधुओं ने उस दूध को ७ पनवाड़ों में बाँटा और ५ तो उन लोगों ने ले लिया तथा एक कबीर को दे दिया और एक उस युवती को। कबीर ने अपना पात्र जमीन पर रख दिया। उस युवती ने ऐसा करने का कारण पूछा। कबीर ने कहा कि गंगा पार से एक साधू और आ रहा है अतः यह दूध उसी के लिए रक्खा गया है। वह युवती कबीर की सज्जनता पर मुग्ध होकर उन्हीं के साथ चली आई। इसका नाम लोई था। कबीर की दो संतानें हुई जिनमें कमाल पुत्र का नाम था और कमाली कन्या का। कमाल का आचरण उच्चतम न होने से कबीर को दुःख भी था:—

बूड़ा बंस कबीर का उपजे पूत कमाल।

कबीर पंथ के कुछ किसानों का मत है कि यह कथा पूर्णतः असत्य है। लोई कबीर के साथ आजन्म रही अवश्य परन्तु कबीर ने उससे विवाह नहीं किया। कमाल और कमाली कबीर के पालितपुत्र थे। परंतु कबीर पंथियों का यह कथन सर्वमान्य नहीं कहा जा सकता।

कबीरदास की मृत्यु मगहर में हुई। कहते हैं कि काशी में मरने से मनुष्य स्वर्ग को जाता है और मगहर में मरने से नरक को 'जो कबीर काशी मरे, तो रामै कौन निहोर !' कह कबीर मगहर चले आए। इन्होंने लिखा भी है:—

सकल जनम सिवपुरी गँवाया ।
मरति बार मगहर उठि धाया ॥

इनका शरीरांत हो जाने पर इनके हिंदू तथा मुसलमान शिष्यों में झगड़ा होने लगा। हिंदुओं का विचार शव का दाह-संस्कार करने का था और मुसलमानों का जलाने का। परंतु जब शव पर से चादर हटाई गई तब शव के स्थान पर फूलों का ढेर मिला। हिंदू-मुसलमानों ने आधे-आधे फूल बाँट लिए और हिंदुओं ने समाधि बनाई और मुसलमानों ने कब्र।

कबीर साहब के जीवन की बहुत सी कथाएं प्रचलित हैं जिनसे पता चलता है कि कबीर बड़े ही सहनशील और उदार पुरुष थे। कबीर पंथ के बहुत से अनुयायी हुए। हिंदू और मुसलमान दोनों ही ने कबीर पंथ स्वीकार किया।

कबीरदास के नाम पर जो रचनाएं कही जाती हैं उनका कुछ हिसाब ही नहीं है। कबीर पंथियों का कहना है कि सद्गुरु अर्थात् कबीरदास की वाणी अनन्त है। खोज में अब तक यह दर्जन के करीब कबीर की पुस्तकें मिली हैं। कबीर के उपदेश मौलिक ही थे क्योंकि उन्होंने स्वयं लिखा है 'मसि कागद छूवो नहीं, कलम गहौ नहिं हाथ।' उनके शिष्यों ने ही इन उपदेश को संग्रहीत किया होगा। इस प्रकार इनमें से अधिकांश तो कबीर की हो ही नहीं सकतीं और इनमें से कुछ विकृत भी कर डाली गई होंगी। 'बीजक' के विषय में प्रचलित भी है कि कबीर को भगवानदास नामक शिष्य बीजक को लेकर भाग गया था और उसने बीजक को विकृत भी किया था। इस प्रकार कबीर के ग्रंथों में प्रमाणिक कितने हैं यह कहना सरल नहीं है।

कबीर के सिद्धांत

प्रारंभ में ही हमने इस बात पर प्रकाश डाला है कि किस प्रकार नाथ पंथ का अभ्युदय हो रहा था। नाथ संप्रदाय का प्रभाव तत्कालीन

परिस्थितियों को देखते हुए पड़ना स्वाभाविक ही था । कबीर पर भी नाथ पंथ पर प्रभाव स्वाभाविक ही पड़ा है। यदि यह कहा जाय कि नाथ पंथ से ही प्रेरणा पाकर कबीर के सिद्धांत निर्मित हुए हैं तो कुछ अनुचित न होगा। जिस प्रकार सिद्धों की रचनाओं में जाति पाँति, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासना के विषय में उपेक्षा प्रदर्शित की गई है तथा रहस्यवादी बनकर रूपकों के सहारे पहेलियाँ बुझाने का प्रयास किया गया है प्रायः वही कबीर ने भी किया है। परंतु कबीर के सिद्धांतों की विशेषता यह है कि वे एक ही रंग में नहीं रंग गए। विचारों पर परिस्थितियों का पूर्ण प्रभाव पड़ता है और कबीर के विचारों पर भी तत्कालीन परिस्थितियों का पूर्ण प्रभाव पड़ा है।

कबीर की शैशवावस्था मुसलमान कुल में ही व्यतीत हुई इस प्रकार कबीर के इस्लाम धर्म में पाये जानेवाले दोषों का शीघ्रता से पता चल सकता था। 'तुरकी धरम बहुत हम खोजा' के अनुसार साफ-साफ विदित होता है कि कबीर को इस्लाम धर्म का अत्याधिक ज्ञान था। कबीर अहिंसा के कट्टर पक्षपाती थे अतएव इस्लाम धर्म की हिंसा और जीववध के वे सख्त विरोधी थे। उन्होंने लिखा भी है:—

कबीर चाल्या जाइ था,
आगैं मिल्या खुदाइ।
मीरां मुझसौं यौं कह्या,
किवि फुरमाई गाइ॥

मुसलमानों की क्रूरता और हिंसा के कारण वे उन्हें फटकारते ही रहे—

दिन भर रोजा रहत हैं, राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी, कैसे खुसी खुदाय॥
अपनी देख करत नहीं अहमक, कहत हमारे बड़न किया।
उसकी खून तुम्हारी गर्दन जिन तुमको उपदेस दिया॥

बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं तिनका कौनु हवाल॥

इस प्रकार इस्लाम धर्म के सिद्धांतों के कबीर विपरीत ही थे। उधर स्वामी रामानंद का शिष्यत्व ग्रहण करने से वे राम के भक्त हो गए। परंतु स्वामी रामानंद का शिष्यत्व ग्रहण करने के साथ-साथ कबीर पर नाथ पंथ का अमिट प्रभाव पड़ा। 'गोरक्षा, सिद्धांत-संग्रह' में पुस्तकी विद्या का उपहास किया गया है और कबीर ने भी वही किया है। नाथ पंथियों ने आचार-विचार का खंडन किया है और कबीर ने भी वही किया। नाथ पंथ की साधना पद्धति हठयोग को भी कबीर ने ग्रहण किया है। कबीर की उलटबाँसियों और योगात्मक रूपकों में हठयोग की झलक-सी देख पड़ती है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कबीर ने ब्रह्मा और विष्णु आदि को जो नीचा दिखाने का प्रयत्न किया है वह भी सिद्ध-प्रेरणा का ही परिणाम है। वज्रयानी-प्रतिमाओं में यह देखा जाता है कि वज्रदेवता या तो अपने चरणों से विष्णु अथवा ब्रह्मा को दबाए हुए हैं अथवा ब्रह्मा या विष्णु पर सवार हैं। वज्रयानी सिद्धों ने धर्म के नाम पर दुराचार भी फैला रखा था और अश्लीलता का जोरों से प्रचार किया था। जिस प्रकार ये अपनी 'वाणियों' का सांकेतिक अर्थ करते थे उसी प्रकार इन अश्लील पदों का भी। ये प्रायः कहा करते थे कि अपनी घरनी को लेकर जब तक केलि नहीं करते तब तक बोधि प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ ही है। इस युवती घरनी के बिना जप-यज्ञ और अन्य बाह्याचार व्यर्थ ही है क्योंकि घरनी ही तो वास्तविक महामुद्रा है और उसके बिना निर्वाण पद प्राप्त करना असंभव ही है। देखिए—

एक न किज्जइ मन्त न तन्त।
णिअ घरणी लेइ केलि करन्त॥
णिअ घर घरणी जाव ण मज्जइ।
ताव कि पंचवण्ण विहरिज्जइ॥

एव जप-होमे मण्डल-कम्मे।
अनुदिन अच्छास काहिउ धम्मे॥
तो विणु तरुणि निरन्तर नेहे।
वोहि कि लागइ एण वि देहे॥

सहजयानी अपनी इन वाणियों का नाम 'सन्ध्या-भाषा' कहते हैं जिसका अर्थ म. म. हरप्रसादजी शास्त्री ने इस प्रकार किया है कि सन्ध्या भाषा वह भाषा है जिसका कुछ अंश तो स्पष्ट रूप से समझ में आ सके और कुछ अंश अस्पष्ट रहे। इस प्रकार सन्ध्या भाषा का अर्थ साँझ माना गया और इस भाषा को आलोक और तिमिर के मध्य की भाषा माना गया। इधर कुछ विद्वानों ने इसके अन्य अर्थ भी किये हैं।

वज्रयानी सिद्धों की इन वाणियों का प्रभाव कबीर पर भी पड़ा और कबीर के पदों में भी अश्लीलता का प्रादुर्भाव हुआ। उत्तर प्रदेश और बिहार के कुछ जिलों में अभी भी होली के अवसर पर 'जोगीड़ा' नामक अश्लील गीत गाए जाते हैं, जो समाज में कुरुचि-उत्पादन और दुराचार का प्रचार करते हैं। इन जोगीड़ा गीतों के साथ-साथ 'कबीर' भी गाये जाते हैं जिससे सिद्ध होता है कि जोगीड़ा और कबीर का आपस में कुछ सम्बन्ध है।

कबीर एक सच्चे भक्त थे और भगवत् साधना ही उनका उद्देश्य था। रामानंदजी के प्रधान उपदेश 'अनन्य भक्ति' को कबीर ने स्वीकार किया था और वे इस प्रकार 'राम' के अनन्य भक्त हो गए। परंतु कबीर के राम पुराणों में वर्णित राम नहीं थे। श्रीहजारीप्रसादजी द्विवेदी के शब्दों में "इसी त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत विलक्षण, भावाभाव-विनिर्मुक्त, अलख अगोचर अगम्य, प्रेम पारावार भगवान् को कबीरदास ने 'निर्गुण राम' कहकर संबोधन किया है। वह समस्त ज्ञान तत्त्वों से भिन्न है फिर भी सर्वमय है। वह अनुभवैकगम्य है—केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है।" कबीर ने लिखा भी है—

निर्गुन राम जपहु रे भाई, अविगति की गति लखी न जाई।
चारि बेद जाके सुम्रित पुरांनां! नौ ब्याकरनां मरम न जानां॥
सेस नाग जाके गरुड़ समांनां! चरन-कँवल कँवल नहिं जांनां।
कहै कबीर जाके भेदे नाहीं। निजजन बैठे हरि की छांहीं॥

कबीर ने राम और रहीम दोनों को एक ही जाना है। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमानों में एकता कराने का उन्होंने प्रयास किया। कबीर पंथ में हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे। कबीर का कहना है कि राम और रहीम दोनों एक ही हैं—

अरे भाइ दोइ कहाँ से मोहिं बतावौ?
बिचिहि भरम का भेद लगावौ।
जोनि उपाइ रची है धरनीं, दीन एक बीच भई करनी॥
राम-रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसबी लई।
कहै कबीर चेतरे भोंदू, बोल निहारा तुरुक न हिंदू॥

कबीर ईश्वर के कट्टर भक्त थे। भक्ति की प्रेरणा उन्हें रामानंद से ही मिली थी। कबीर की साधना ने ही उन्हें वज्रयानी सिद्धों और नाथ पंथियों से ऊँचा पद प्रदान किया। भगद्विपयक प्रेम को ही भक्ति कहते हैं और कबीर का अपने राम के प्रति अत्याधिक प्रेम था। किसी किसी ने कबीर के कुछ पदों के आधार पर उन्हें अवतारवादी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है परंतु कबीर वास्तव में 'निगुण राम' के ही उपासक थे। उन्होंने तीर्थयात्रा, बहुदेवोपासना और उपासना के अन्य बाह्य उपचारों का खंडन ही किया है। कबीर पर सूफियों का प्रभाव पड़ा और कबीर का रहस्यवाद सूफियों के प्रभाव का ही परिणाम है।

इस प्रकार कबीर के सिद्धांत अपना विशेष महत्व रखते हैं। भक्ति ... की निगुणधारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के ये समुज्वल रत्न थे। कबीर ने हिंदू-मुसलिम एकता का भी प्रयत्न किया। उपासना के क्षेत्र में मौलवी और पंडितों दोनों को उन्होंने खरी-खरी भी बातें सुनाईं। कबीर की भक्तिसाधना पर विचार करते हुए आचार्य रामचंद्र ने लिखा

है—"इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रगतिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। वास्तव में कबीर एक सच्चे भक्त थे और तुलसी के समान भक्तों की श्रेणी में उनका भी अपना विशिष्ट स्थान है।

भाषा

कबीर की भाषा पर साहित्यिक दृष्टिकोण से विचार करना कबीर के प्रति अन्याय करना है। कबीर ने अपना काव्य पांडित्य प्रदर्शन के हेतु न लिखा था वरन् वे तो उनके हृदय से निकले हुए उद्‌गार हैं। 'मसि कागद छूवो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।'

नामक उक्ति के अनुसार कबीर ने स्वयं ही अपनी लघुता प्रदर्शित की है।

सिद्धों की रचनाओं पर यदि ध्यान पूर्वक विचार किया जाय तो पता चलता है कि सिद्धों के गीतों की भाषा प्राचीन बिहारी या पूरबी बोली है जब कि उपदेश की भाषा पुरानी टकसाली हिंदी है। यही भेद कबीर की भाषा में भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कबीर के पदों की भाषा ब्रजभाषा है या तत्कालीन प्रचलित पूरबी बोली भी कहीं कहीं स्पष्ट लक्षित होती है। परंतु 'साखी' की भाषा तो सधुक्कड़ी भाषा है और इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थानी का प्रभाव साखियों पर पड़ा है। कबीर ने कहीं-कहीं बड़ी ही सुमधुर ब्रजभाषा में रचना की। गीतों के लिए उस समय ब्रज भाषा ही प्रचलित थी। चंद बरदायी के पृथ्वीराज रासो में भी ब्रजभाषा की झलक देख पड़ती है। कबीर के निम्नांकित पद की भाषा सूर के सदृश्य ही है। ब्रजमाधुरी का यह सरस उदाहरण है:—

हौं बलि कब देखौंगी तोहिं।
अहनिस आतुर दरसन-कारनि ऐसी व्यापी मोहिं॥

नैन हमारे तुम्हहिं चाहैं, रती न मानैं हारि।
बिरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु बिचारि॥
सुनहु हमारी दादि गोसाईं, अब जिनि करहु अधीर।
तुम धीरज, मैं आतुर, स्वामी, काँचे भाँडै नीर॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधै धीर।
देह छताँ तुम मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर॥

कबीर की भाषा के विषय में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मुसलमान कुल में पालन पोषण होने से स्वाभाविक है फारसी का प्रभाव उनकी भाषा पर पड़ा। कहीं-कहीं फारसी शब्दों की अधिकता भी उनकी भाषा में है। इस प्रकार कबीर की भाषा में फारसी के शब्द भी दृष्टिगोचर होते हैं—

कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या॥

कबीर उपदेशक थे। सर्वसाधारण उनकी बानियों को अधिक से अधिक समझ सकें, इसलिये उन्होंने अपनी भाषा में समस्त प्रचलित शब्दों को स्थान दिया है। इस प्रकार उनकी भाषा के भिन्न-भिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं तो संस्कृत-गर्भित भाषा दृष्टिगोचर होती है, कहीं ब्रजभाषा का मधुर स्रोत प्रवाहित हो रहा है, कहीं-कहीं उर्दू मिश्रित भाषा देख पड़ती है और कहीं-कहीं राजस्थानी की शब्दावली भी झलक उठती है। देहाती भाषा के कुछ शब्द दृष्टिगोचर होते हैं और पूरबी बोली का तो प्रभाव पड़ा ही है। पदों में पूरबी बोली की कहीं-कहीं अधिकता सी हो गई है। पंजाबी शब्दों की भी कमी नहीं है। इस प्रकार कबीर की भाषा में कई भाषाओं के शब्द दृष्टिगोचर होते हैं परंतु इतने पर भी उनका भाषा सौंदर्य कहीं भी हीन नहीं दृष्टिगोचर होता। कहावतों और मुहावरों का भी उन्होंने प्रयोग किया है। लोकोक्तियों की बहार भी कहीं-कहीं देख पड़ती है। कबीर की वाणी में स्वाभाविक ही अलंकार घुलमिल से गए हैं।

शब्दालंकारों की सुषमा तो दृष्टिगोचर होती ही है पर अर्थालंकारों की भी अधिकता है। अन्योक्ति का एक उदाहरण देखिए:—

माली आवत देख करि, कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुनि लिए, कालिह हमारी बार॥

व्यंग्य के सरस-सुमधुर उदाहरण भी कबीर की कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं। पंडितों और मौलवियों को कबीर ने खरी-खरी बातें सुनाई हैं। इस प्रकार व्यंग्य की छटा देखते ही बनती है। सरल भाषा में निम्नांकित पद में कबीर ने गंगा नहाने वालों पर कैसा सुंदर व्यंग्य किया है:—

चली है कुलबोरनी गंगा नहाय।
सतुवा कराइन बहुरी भुँजाइन, घूँघट ओटे भसकत जाय॥
गठरी बाँधिन मोटरी बाँधिन, खसम के मूड़े दिहिन धराय।
बिछुवा पहिरिन औठा पहिरिन, लात खसम के मारिन धाय॥
गंगा न्हाइन जमुना न्हाइन, नौ मन मैल है लिहिन चढ़ाय।
पाँच पचीस के धक्का खाइन, घरहुँ की पूँजी आई गंवाय।
कहत कबीर हेत कर गुरुसों, नहिं तोर मुकुती जाइ नसाय॥

व्याकरण की दृष्टि से तो कबीर की भाषा अशुद्ध ही कही जावेगी। अधिकतर शब्दों को विकृत किया गया है जिससे शब्द सौंदर्य का कहीं-कहीं बुरी तरह ह्रास हो गया है। शब्दों को विकृत करने के साथ-साथ छन्दों में भी अशुद्धियाँ हैं। कबीर ने छंद के नियमों को माना नहीं है। कारक चिह्नों में भी अशुद्धियाँ हैं। 'से' 'कै' 'सन' 'कर' आदि अवधी के और ब्रजभाषा के 'को' तथा राजस्थानी के 'थै' को कबीर ने अपनाया है। इस प्रकार व्याकरण की अशुद्धियों की बाहुल्यता है।

परंतु; इतने पर भी कबीर की भाषा पर हिंदी साहित्य को गर्व करना ही चाहिए। कबीर का आविर्भाव उस समय हुआ जब कि हिंदी प्रारंभिक अवस्था में थी। इस प्रकार हिंदी के ये प्रारंभिक

कवि हैं और हिंदी का विकास करने का श्रेय इन्हें अवश्य देना चाहिए। श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने कबीर की भाषा के विषय में उचित ही लिखा है :—

"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है।"

कवित्व

कबीर की कृतियों का अध्ययन करने से विदित होता है कि कबीर में सत्यकवि के लक्षण अवश्य थे। यदि कबीर चाहते तो काव्य-सौंदर्य के उच्च से उच्च चित्र प्रस्तुत कर सकते थे परंतु उनका उद्देश्य काव्य सृजन न होकर उपदेश देना था। भक्ति साधना में रत कबीर के मानस से जो उद्‌गार निकले वे ही कबीर के काव्य-सौंदर्य के द्योतक हैं।

कबीर के काव्य को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। (१) नीति संबंधी (२) ज्ञानोपदेश और सिद्धांत संबंधी (३) आत्म निवेदन और भगवत्प्रेम संबंधी तथा (४) वर्णन संबंधी। कबीर ने दोहों और पदों में रचनाएँ की हैं। हिंदी गीति काव्य को अलंकृत करने का भी श्रेय उन्हें देना चाहिए। नीति संबंधी उनकी साखियाँ सर्वसाधारण में अत्याधिक प्रचलित हैं। कुछ तो कहावतों के रूप में भी कही जाती हैं। ज्ञानोपदेश और सिद्धांत संबंधी रचनाओं में कवित्व कम है परंतु उनसे कबीर पंथ का परिचय अवश्य प्राप्त होता है। वर्णन संबंधी पद भी इसी प्रकार के हैं। इन तीनों प्रकार

की रचनाओं पर हम 'कबीर के सिद्धांत' के अंतर्गत संक्षेप में प्रकाश डाल चुके हैं। यहाँ हम उनके भगवत्प्रेम और आत्म निवेदन विषयक पदों पर विचार करेंगे।

कबीर पर सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद का प्रभाव पड़ा है। सूफियों के सदृश्य इन्होंने भी प्रेम साधना को अपनाया है। कबीर की भक्तिसाधना प्रेम साधना के सदृश्य है। भक्त रूपी प्रिया भगवान रूपी प्रेमी पर आसक्त है और अपना तन मन सब कुछ अपने प्रेमी पर न्योछावर कर चुकी है। प्रिया प्रेमी के साथ संयोग कर जीवन का सुख लूटना चाहती है। वह अपने प्रेमी के सन्मुख आत्म समर्पण करना चाहती है। भक्त भी भगवान के आगे अपना आत्म समर्पण करना चाहता है। कबीर भी इसी प्रकार के भक्त हैं। जब प्रेमी से वियोग होता है तब प्रिया को शान्ति नहीं मिलती। भक्त भी भगवान के वियोग में शान्ति नहीं पा रहा है। राम-विरह से व्यथित भक्त अपने प्रेमी से मिलना चाहता है। वह कहता है:—

चकवी बिछुरी रैणि की, आइ मिली परभाति।
जब बिछुरे राम से, ते दिन मिलें न राति॥
बिरहिनि ऊभी पंथसिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलैंगे आइ॥

प्रिया अपने प्रियतम की बाट जोहते-जोहते थक सी गई है। यदि एक बार भी उसका प्रियतम मिल जाय तो भक्त रूपी प्रिया उसे लोचनों में इस प्रकार बन्द कर ले कि वह और किसी को न देख सके और न प्रेमी ही किसी को देख सके:—

नैना अन्तरि आपनूं, ज्यूं हौं नैन झपेउं।
नाँ हौं देखौं और कूं, न तुझ देखन देउं॥

इस प्रकार भगवत्प्रेम का सुंदर चित्रण कबीर ने किया है। प्रेम वर्णन में उन्हें अपूर्व सफलता मिली है। यह अवश्य है कि कहीं-कहीं उनके विरह में सूर की सी सरसता नहीं है पर तो भी विरहव्यथित

मानस की झाँकी दिखलाने में वे सफल रहे हैं। कबीर की उलट वाँसियों का ठीक-ठीक अर्थ अभी तक निकाला नहीं जा सका है। कवित्व की झलक भी उनमें देख पड़ती है। कबीर का अपना खास व्यक्तित्व था, उनकी शैली भी सर्वथा निराली थी और इस प्रकार उनकी काव्यकला भी अपना विशिष्ट स्थान रखती है। कबीर वास्तव में सत्कवि थे और उनकी कविता भी महत्वपूर्ण है। आचार्य काका कालेलकर ने सर्वथा उचित लिखा है:—

"सन्तवाणी किसी भी राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ पूँजी है। वह वाणी क विलास नहीं, किन्तु जीवन का निचोड़ है, इसलिए वह जीवित औ अमर होती है। सन्तवाणी वही स्वर्गीय गंगा है, जिसमें स्नान-पा करने से लोक-जीवन पवित्र, समृद्ध, समर्थ और स्वतंत्र हो जाता है।"

मलिक मुहम्मद जायसी

परिचय

निर्गुण धारा में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने यद्यपि भक्ति के लिए निर्गुण मत को स्वीकार किया परंतु वे उसी प्रवाह में प्रवाहित नहीं हुए जिसमें कि निर्गुण धारा के अधिकांश कवि प्रवाहित हुए। इस प्रकार निर्गुण धारा भी दो शाखाओं में विभाजित हुई जिसमें प्रथम तो ज्ञानाश्रयी शाखा कहलाई और दूसरी प्रेममार्गी शाखा। कबीर ज्ञानाश्रयी शाखा के ही समुज्वल रत्न हैं और निर्गुण पंथ के प्रवर्त्तकों में से हैं। कबीर की कृतियों से विदित होता है कि हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रयत्न उस समय जोरों पर थे। कबीर के साथ-साथ सूफी कवियों ने भी हिंदू मुस्लिम एकता का प्रयास किया। सूफी कवियों ने प्रेमगाथाओं की रचना की है। लौकिक प्रेम के चित्रण के बहाने इन कवियों ने ईश्वर के प्रति अटूट प्रेम प्रदर्शित किया है। सूफी कवियों की ये रचनाएँ साहित्यिक कही जा सकती हैं और निर्गुण पंथी ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों के बजाय प्रेममार्गी शाखा के इन सूफी कवियों की रचनाओं में कवित्व की अधिकता है। हिंदुओं को आकर्षित करने के हेतु इन सूफी कवियों में परंपरा से चली आती हुई हिंदुओं के घरों की ही कहानियों को काव्य का रूप दिया है। यह अवश्य है कि आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं परिवर्तन भी किये गए हैं। इन गाथाओं में हिंदू पात्रों की अधिकता होने से स्वाभाविक ही हिंदू इन रचनाओं की ओर आकर्षित हुए और इस प्रकार ये कवि हिंदू मुस्लिम एकता के प्रयास में सफल भी रहे। विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के जैन-चरित काव्यों का अवलोकन करने से विदित होता है कि आख्यान

काव्यों के लिए दोहे चौपाइयों का उपयोग किया जाता रहा। जैन चरित काव्यों की इस प्रणाली को इन सूफी कवियों ने भी अपनाया और दोहे चौपाइयों में इन प्रेमगाथाओं की रचना की। इस प्रकार इन सूफी कवियों का शिक्षितों और अशिक्षितों दोनों पर प्रभाव पड़ा।

यद्यपि कविवर ईश्वरदास ने दिल्ली के बादशाह सिकंदर शाह (संवत् १५४६—संवत १५७४) के समय में 'सत्यवती कथा' नामक पुस्तक दोहे चौपाइयों में लिखकर प्रेमगाथाओं का सृजन प्रारंभ किया था परंतु प्रेममार्गी शाखा के प्रथम कवि कुतबन माने जाते हैं जिन्होंने संवत् १५५८ या सन् ९०९ हिजरी में 'मृगावती' नामक प्रेमाख्यान काव्य दोहे चौपाइयों में लिखा। कुतबन के उपरांत मंझन ने 'मधुमालती' नामक अख्यान-काव्य की रचना की। इन समस्त प्रेममार्गी शाखा के सूफी कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी का अपना एक अद्वितीय स्थान है जिन्होंने 'पद्मावत' की रचना कर हिंदी साहित्य को गौरवान्वित किया। जायसी के जीवन वृत्तान्त के विषय में अभी तक कुछ भी ठीक-ठीक पता नहीं चलता है परंतु हर्ष की बात है कि जायसी ने अपने तीनों ग्रन्थों पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम में कुछ न कुछ अपने विषय में लिखा ही है। 'आखिरी कलाम' में जायसी ने अपने स्वयं के विषय में लिखा है:—

भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिस ऊपर कबि बदी॥
आवत उधत-चार विधि ठाना। भा भूकंप जगत अकुलाना॥
धरती दीन्ह चक्र-विधि भाई। फिरै अकास रहँट कै नाई॥
गिरि-पहार मेदिनी तस हाला। जस चाला चलनी भरि चाला॥
मिरित-लोक ज्यों रचा हिंडोला। सरग-पताल पवन-खट डोला॥
गिरि-पहार परबत ढहि गए। सात समुद्र कीच मिलि भए॥
धरती फाटि छात भहरानी। पुनि भइ मया जौ सिष्टि दिठानी॥

यदि इतिहास में इस भूकंप का वर्णन कहीं पाया जा सके तो फिर जायसी के जन्म काल का ठीक-ठीक पता भी चल सकता है। परंतु

इतिहास में इसका वर्णन पाया नहीं जाता। साथ ही इस अवतरण की प्रथम पंक्ति से कई अर्थ निकलते हैं। इससे निश्चित तिथि का पता चलना कठिन ही है। यदि नौ सदी का अर्थ ९०० लिया जाय और तीस बरस ऊपर कवि बदी का अर्थ यह निकाला जाय कि कवि ने तीस वर्ष अधिक कहा है तो इस प्रकार यही अर्थ होगा कि जायसी का जन्म काल सन् ८७० हिजरी है। परंतु यदि तीस बरस ऊपर कवि बदी का अर्थ लगाया जाय कि तीस वर्ष के उपरांत जायसी कवि कहलाये तो इस प्रकार जायसी का जन्म काल सन् ९०० हिजरी होगा और यदि आजकल के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो नौ सदी का अर्थ ८०० से ९०० होगा और तीस बरिस ऊपर कवि बदी के अनुसार जायसी का जन्म काल सन् ८३० हिजरी माना जावेगा परंतु यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जायसी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पद्मावत' में शेरशाह सुलतान का प्रशंसात्मक वर्णन किया है। सन् ९४७ हिजरी में शेरशाह ने दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार किया था। इस प्रकार सन् ८३० हिजरी को तो जायसी का जन्म संवत् माना ही नहीं जा सकता अब सन् ८७० हिजरी और सन् ९०० हिजरी पर ही कुछ विचार किया जाये। जायसी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पद्मावत' में लिखा है:—

सन नव सै सत्ताइस अहा।
कथा-अरंभ-बैन कवि कहा॥

इससे यह निष्कर्ष निकाला कि जायसी ने ९२७ हिजरी सन में 'पद्मावत का लिखना प्रारंभ किया परंतु ग्रंथारंभ में कवि ने शाहेवक्त शेरशाह की प्रशंसा की है जो कि ९४७ हिजरी सन में शासनाधिकारी हुआ था इसलिये बहुत से विद्वानों का मत है कि वास्तव में सन ९४७ हिजरी में 'पद्मावत' की रचना का प्रारंभ किया। बाबू श्यामसुंदरदासजी भी सन ९४७ हिजरी को 'पदमावत' का ग्रंथारंभ मानते हैं। पदमावत की हस्तलिखित प्रतियाँ जो प्राप्त हुई हैं वे फारसी अक्षरों में ही अधिकतर

लिखी गई है। इस प्रकार पाठ भेद से ६२७ हिजरी और ६४७ हिजरी एक ही प्रकार से पढ़े जावेंगे। आचार्य शुक्ल जी का मत है कि पदमावत का प्रारंभ जायसी ने किया तो सन ६२७ हिजरी में ही है परंतु ग्रंथ को १६ या २० वर्ष उपरांत शेरशाह के समय में पूर्ण किया। आपने प्रमाण भी दिया है कि पदमावत के बंगला अनुवाद में जो सन १६५० के आस-पास का है 'नव सै सत्ताइस' ही पाठ माना गया है:—

शेख महम्मद जति जखन रचित ग्रंथ संख्या सप्तविंश नवशत।

इस प्रकार ६२७ हिजरी सन् को ही आचार्य शुक्ल जी उचित समझते हैं। जायसी ने पदमावत में शेरशाह के अतिरिक्त बाबर का भी वर्णन किया है पर बाबर के बजाय शेरशाह का वर्णन विस्तार पूर्वक तो है पर अधिक भावपूर्ण भी है। हो सकता है शेरशाह के राज्याभिषेक के समय जायसी दिल्ली गए हों। जायसी ने शेरशाह को आशीर्वाद भी दिया है:—

दीन्ह असीस मुहम्मद, करहु जुगहि जुग राज।
बादशाह तुम जगत के, जग तुम्हार मुहताज॥

संभव है जायसी ने यह आशीर्वाद शेरशाह के राज्याभिषेक के समय ही दिया हो। इस प्रकार पदमावत का प्रारंभ ६२७ हिजरी सन मानना ही उचित है। श्री चंद्रबली पांडे ने पदमावत का रचना काल सन ६२७ हिजरी से सन ६४८ हिजरी माना है। 'आखिरी कलाम' में जायसी ने लिखा है—

नौ सै बरस छत्तीस जो भए।
तब एहि कथा के आखर कहे॥

इस प्रकार पता चलता है कि 'आखिरी कलाम' की रचना सन ६३६ हिजरी में हुई। यदि जायसी का जन्म काल ६०० हिजरी सन माना जाय तो इस समय उनकी अवस्था ३६ वर्ष की ठहरती है और यदि ८७० हिजरी सन माना जाय तो ६६ वर्ष की। परंतु ३६ वर्ष की

अवस्था वैराग्य के लिए उचित नहीं कही जा सकती अतएव जायसी का जन्मकाल सन ८७० हिजरी मानना ही अधिक उचित होगा। पं० चंद्रबली पांडे ने भी जायसी का जन्म ८७० हिजरी सन ही माना है। इनका कहना है कि जायसी का शेरशाह को आशीर्वाद देना तभी उचित कहा जा सकता है जब कि जायसी शेरशाह से कुछ बड़े हों। शेरशाह का जन्म सन ८७७ हिजरी (दिसंबर १४७२ ई०) में हुआ था अतएव यदि जायसी का जन्म काल सन ८७० हिजरी माना जाय तो स्वाभाविक ही जायसी अवस्था में शेरशाह से कुछ बड़े होंगे और इस प्रकार उनका शेरशाह को आशीर्वाद देना न्यायसंगत ही कहा जावेगा। अतएव जायसी का जन्मकाल सन ८७० हिजरी ही माना जा सकता है।

जायसी ने अपने कुल के विषय में किसी भी पुस्तक में कुछ नहीं लिखा है। अपने विषय में वे लिखते हैं :—

एक नयन मुहमद गुनी। सोइ बिमोहा जेइ कवि सुनी॥
चाँद जैसे जग-विधि औतारा। दीन्ह कलंक, कीन्ह उजियारा॥

और भी—

एक नयन जस दरपन औ निरमल तेहि भाउ।
सब रूपवंतह पाउँ गहि मुख जोहहिं कै चाउ॥

इस प्रकार पता चलता है कि जायसी की एक ही आँख थी। किसी-किसी का कहना है कि जायसी को शैशवावस्था में ही अर्धांग हो गया था और परिणामस्वरूप उनका दाहिना अंग ही ठीक रहा; बायां अंग बेकार हो गया—:

मुहमद बाइँ दिसि तजा, एक सरवन, एकआँखि।

कुछ लोगों का कहना है कि चेचक की बीमारी के कारण जायसी की यह दशा हुई परंतु कुछ भी हो इतना तो अवश्य है कि जायसी कुरूप थे। कहते हैं कि एक बार शेरशाह इनकी कुरूपता पर हँस पड़ा तब जायसी ने कहा—'मोंहि का हँससि के कोहराहि।' जायसी ने साधुओं और फकीरों का भी संसर्ग किया था अतएव मुसलमानी संस्कारों

का प्रभाव तो उन पर पड़ा ही पर साथ ही हठयोग की साधना, वेदांत और पौराणिक वृत्तों की ओर भी जायसी आकर्षित हुए। जायसी ने वैराग्य भी ग्रहण किया था। कहते हैं कि एक कोढ़ी लकड़हारा के साथ जायसी ने एक दिन भोजन किया और उस लकड़हारा की घिनौनी जूठन को उन्होंने पी लिया। उसे पीते ही कोढ़ी तो लुप्त हो गया परंतु जायसी के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे विरागी बन गए।

जायसी जायस के रहनेवाले थे। उनकी कृतियों से पता चलता है कि सैयद असरफ पीर जायसी के पीर थे। जायसी ने अपने गुरु का भी वर्णन किया है :—

गुरु मोहदी सेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहि कर खेवा॥
अगुवा भयउ सेख बुरहानू। पंथ लाइ मोहि दीन्ह गियानू॥

इस प्रकार जायसी को शेख बुरहान के द्वारा गुरुमोहदी (मुहीउद्दीन) का सत्संग प्राप्त हुआ था। अखरावट में शेख बुरहान को कालपी नगर का बताया गया है।

जायसी की मृत्यु के विषय में कहा जाता है कि मँगरा के वन में ईश्वर की आराधना करते समय किसी बहेलिया की गोली लगने से इनकी मृत्यु हुई। जायसी की ध्वनि को शेर की ध्वनि समझकर बहेलिया ने भूल से इनका अंत कर दिया। कहते हैं कि जायसी ने पहले ही कह दिया था कि इसी बहेलिये के हाथ उनकी मृत्यु होगी। काजी सैयद आदिलहुसैन ने अपने रोजनामचे में जायसी की निधन तिथि ५ रज्जब ९४९ हिजरी (सन् १५४२ ई०) लिखी है और पं० चंद्रबली पांडे इसी तिथि को ठीक मानते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य तिथियाँ भी प्रचलित हैं। इनमें से सन् १०६९ हिजरी और १०४९ हिजरी को तो उचित माना ही नहीं जा सकता पर हाँ यदि जायसी का जन्म ९०० हिजरी सन् माना जाय तो ९९९ हिजरी सन् को अवश्य कुछ अंशों में उचित माना जा सकता है। परंतु यदि पदमावत

का रचना काल ६४७ हिजरी सन् भी मान लिया जाय तो ५२ वर्षों में पद्मावत का लिखा जाना उचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार सभी दृष्टिकोणों से विचार करने पर यही उचित जान पड़ता है कि जायसी का जीवनकाल सन् ८७० हिजरी सन् ६४६ हिजरी तक माना जावे।

यद्यपि 'सखरावत', 'चम्पावत', 'मुराईनामा' और 'पोस्तीनामा' जैसी कुछ पुस्तकों को भी जायसी रचित कहा जाता है परंतु जब तक ये कृतियाँ न मिल सकें तब तक इनके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार 'पद्मावत', 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' ही जायसी की कृतियाँ हैं। 'आखिरी कलाम' में कयामत का वर्णन किया गया है और 'अखरावट' में ईश्वर, सृष्टि, जीव आदि सिद्धांत संबंधी तत्त्वों से परिपूर्ण चौपाइयाँ हैं। कवित्व की दृष्टि से 'पद्मावत' ही उल्लेखनीय है। 'पद्मावत' में कवित्व और आध्यात्मिकता का मणिकांचनमय योग है। 'पद्मावत' प्रबंध काव्य की कथा यद्यपि काल्पनिक ही है पर उसमें ऐतिहासिकता का भी अंश है। चित्तौर के राजा के लिए भीमसी और रत्नसेन दोनों नाम ऐतिहासिक ग्रंथों में मिलते हैं। महारानी पद्मिनी या पद्मावती तो इतिहास प्रसिद्ध ही हैं। इतिहास प्रसिद्ध नायक और नायिका ही 'पद्मावत' काव्य की नायक और नायिका हैं। पद्मावत का पूर्वार्द्ध अवश्य काल्पनिक है परंतु उत्तरार्द्ध में ऐतहासिकता भी है। 'पद्मावत' जैसे बड़े काव्य में पिंगल की दृष्टि से दोहे-चौपाइयों का ही क्रम है परंतु इतने पर भी नीरसता नहीं है। 'रामचंद्रिका' की भाँति छंदों का व्यर्थ प्रदर्शन नहीं किया गया। 'अखरावट' में सोरठा छंद भी अपनाया गया है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान गार्सां द तासी का कहना है कि जायसी के कुछ पद या गीत भी कम्पनी सरकार के पुस्तकालय में हैं परंतु अभी तक उनका प्रकाशन नहीं हुआ है अतएव उनके विषय में ठीक-ठीक कुछ कहा नहीं जा सकता।

भाषा

जायसी की भाषा ठेठ अवधी है। दोहे और चौपाइयों के लिए अवधी भाषा ही अनुकूल है। मुसलमान होते हुए भी पूरबी हिंदी अर्थात् अवधी भाषा का इतना सुंदर उपयोग करना कौतूहल प्रद ही है। जायसी को अवधी का अच्छा ज्ञान था। संस्कृत का भी अध्ययन कदाचित् जायसी ने किया था क्योंकि कहीं-कहीं संस्कृत-शब्द भी उनकी रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि जायसी के पूर्व मंझन और कुतबन मधुमालती और मृगावती की रचना अवधी में कर चुके थे परंतु अवधी भाषा जिस सौष्ठव के साथ जायसी की कृतियों में ढली है वैसी उनके पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं में नहीं। जायसी ने अवधी को गौरवान्वित किया है। जायसी के उपरांत तुलसी ने अवधी को अपनाया और अपने प्रसिद्ध काव्य 'रामचरित मानस' की रचना अवधी में की। जायसी और तुलसी दोनों ही अवधी के अमर कवि हैं। जायसी का महत्व इस बात में है कि वे प्रथम कवि हैं जिन्होंने अवधी को विकसित किया। जायसी की इस प्रणाली को वर्तमान युग में श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने भी अपनाया और 'कृष्णायन' की रचना अवधी में की। इस प्रकार अवधी भाषा के तीन रूप हमें दृष्टिगोचर होते हैं। पद्मावत, रामचरित मानस और कृष्णायन इन तीन कृतियों में अवधी भाषा के ये तीनों रूप दृष्टिगोचर होते हैं। जायसी के पूर्व 'मंझन' ने इस प्रकार की अवधी भाषा लिखी है—

बिरह-अवधी अवगाह अपारा। कोटि माहिं एक परै त पारा॥
बिरह कि जगत अँबिरथा जाही। बिरह रूप यह सृष्टि सबाही॥
नैन बिरह-अंजन जिन सारा। बिरह रूप दरपन संसारा॥
कोटि माहिं बिरला जग कोई। जाहि सरीर बिरह-दुख होई॥
रतन कि सागर सागरहिं, गजमोती गज कोइ।
चंदन कि बन-बन ऊपजै, बिरह कि तन-तन होइ॥

अब जायसी की भाषा का उदाहरण देखिए :—

भा भादों दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अँधियारी॥
मंदिर सून पिउ अनतै बसा। सेज नागिनी फिरि-फिरि डसा॥
रहौं अकेलि गहे एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी॥
चमक बीजु, घर गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा॥
बरसै मघा झकोरि-झकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी॥
धनि सूखै भरे भादौं माहाँ। अबहुँ न आएन्हि सीचेन्हि नाहा॥
पुरवा लाग भूमि जल पूरी। आक जवास भई तस झूरी॥
थल जल भरे अपूर सब, धरति गगन मिलि एक।
धनि जोबन अवगाह महँ, दे बूड़त पिउ टेक॥

जायसी की भाषा बोलचाल की ठेठ अवधी भाषा है। तुलसी और जायसी की भाषा में काफी अंतर है। तुलसी की भाषा साहित्यिक अवधी है जबकि जायसी की भाषा बोलचाल की ठेठ अवधी। तुलसी की अवधी का रूप विकसित है। देखिए—

बंदउँ गुरु - पद - पदुम - परागा। सुरुचि - सुबास सरस अनुरागा।
अमिय - मूरि - मय चूरन चारू। समन सकल भव - रुज - परिवारू॥
सुकृति - संभु - तन विमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद - प्रसूती।
जन - मन मंजु मुकुर मल - हरनी। किए तिलकु गुन - गन - बस करनी॥
गुरु - पद - रज मृदु मंजुल अंजन। नयन - अमिय दृग - दोष - बिभंजन।
तेहि करि विमल बिवेक - बिलोचन। बरनउँ राम-चरित भव - मोचन॥

अब 'कृष्णायन' के भाषा - सौंदर्य का एक उदाहरण देखिए :—

अस भाषत हरि चक्र सँवारा। उपजेउ अकस्मात उजियारा।
ज्योति पल्लवित मही अकाशा। चौंधे दृग, दिशि दशहु प्रकाशा॥
तड़की तड़ित मनहुँ कहुँ थोरा। गिरेउ सभा जनु बज्र कठोरा।
निमिष न कहुँ कछु काहु लखाना। भागे बीति अवनिपति नाना॥
लखेउ रहे तहँ जे धरि धीरा। कतहुँ चैद्य - शिर, कतहुँ शरीरा।
कौतुक और भयेउ तिहि काला। प्रकटी चैद्य - देह, तजि ज्वाला॥

टूटत व्योम-मध्य जिमि तारा। होत विलीन असीम मँझारा।
तैसेहि ज्योति आपु प्रकटानी। आपुहि हरि-पद परसि सयानी॥

जायसी की भाषा बोल चाल की ठेठ अवधी होते हुए भी उच्च से उच्च भावों की व्यंजना करने में समर्थ है। भाषा भावानुकूल ही है। युद्ध वर्णन में कहीं-कहीं ओज गुण भी दृष्टिगोचर होता है। नहीं तो सर्वथा मधुरता ही दृष्टिगोचर होती है। जायसी की भाषा में प्रसाद गुण की ही अधिकता है। जायसी ने भाषा को विकृत नहीं किया है। शब्दों का इतना सुचारु ढंग से प्रयोग किया गया है कि कृत्रिमता कहीं भी नहीं झलकती। सर्वत्र ही कोमल कांत पदावली देख पड़ती है। जायसी ने अलंकार व्यंजना भी की है। अलंकारों के प्रयोग से भाषा सौंदर्य निखर सा उठा है। शब्दालंकार की बजाय अर्थालंकारों का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। उत्प्रेक्षा के वर्णन में जायसी अधिक सफल रहे हैं। जायसी ने अतिशयोक्ति का ही वर्णन किया है:—

सहस-सहस हस्तिन्ह कै पाँती।
खींचहिं रथ, डोलहिं नहिं माती॥

और भी—

गिरि पहार सब मिलिगे माटी।
हस्ति हेराहिं तहाँ होइ चाँटी॥

कहीं-कहीं उपमा की सहायता से जायसी ने अपने वर्णन को सजीव सा बना दिया है:—

चमकहिं बीजु होइ उजियारा।
जेहि सिर परै होइ दुइ फारा॥

परंतु रूपक अलंकार का प्रयोग करने में जायसी सफल नहीं रहे। शृंगार को बीर का रूप देने के लिए उन्होंने रूपक का अवलंब अवश्य लिया है परंतु रूपक अलंकार की शोभा का इससे ह्रास सा हो गया है। विभाव चित्रण अवश्य सुंदर बन पड़ा है:—

करीं सिंगार जैसे वै नारी। दारू पियहिं जैसि मतवारी॥
उठै आगि जो छाँड़हिं साँसा। धुआँ जौ लागै जाइ अकासा॥
सदुर आगि सीस उपराहीं। पहिया तरिवन चमकत जाहीं॥
कुच गोल दुइ हिरदय लाये। अंचल धुजा रहहिं छिटकाये॥
रसना लूक रहहिं मुख खोले। लंका जरै सो उनके बोले॥
अलक जँजीर बहुत जिउ बाँधे। खींचहिं हस्ती टूटहिं काँधे॥

तिलक पलीता माथे दसन बज्र के बान।
जेहि हेरहिं तेहि मारहिं चुरकुस करहिं निदान॥

छोटे-छोटे रूपकों की व्यंजना में अवश्य जायसी को सफलता मिली है। सुचारु अलंकार व्यंजना के साथ-साथ जायसी ने व्यंगोक्ति भी बड़ी सुंदर लिखी है। रहस्यगर्भित वाक्यों तथा व्यंगोक्तियों का 'पद्मावत' में समावेश है। इस प्रकार जायसी का भाषा-सौंदर्य निखरा हुआ ही दृष्टिगोचर होता है। यह अवश्य है कि यत्र-तत्र व्याकरण की थोड़ी सी अशुद्धियाँ अवश्य देख पड़ती हैं। प्राचीन शब्दों और उनके रूपों का कहीं-कहीं प्रयोग भी मिलता है तथा लिंग दोष भी उनकी भाषा में देख पड़ते हैं जैसा कि चंद्रमा को स्त्रीलिंग मानना परंतु तो भी जायसी की भाषा सब प्रकार से नितांत सुंदर है।

काव्य-सौंदर्य

साहित्य दर्पण के रचयिता विश्वनाथ का कथन है कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है। वास्तव में रस ही कविता का सबसे बड़ा गुण है। 'श्रीकण्ठ-चरित' के रचयिता महाकवि मंखक ने भी लिखा है कि सैकड़ों अलकारों से अलंकृत होने पर भी, शब्द-शास्त्र के उच्चासन पर आरूढ़ होने पर भी तथा सब प्रकार के सौष्ठव को धारण करने पर भी कोई भी प्रबंध बिना रस रूपी अभिषेक के काव्याधिराज पदवी को नहीं प्राप्त कर सकता। देखिए:—

तैस्नैरलंकृतिशतैरवतंसितोऽपि
रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि ।
नूनं विना घनरस प्रसराभिषेकं
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः ॥

'पद्मावत' में यद्यपि जायसी ने नवों रसों का वर्णन किया है पर प्रधानता शृंगार की ही है। पद्मावत शृंगार रस प्रधान काव्य ही है। शृंगार का स्थायी भाव रति या प्रेम है और चूंकि 'पद्मावत' प्रेम-गाथा है अतएव उसमें प्रेम वर्णन होना स्वाभाविक ही है। पद्मावती पर आसक्त हो रत्नसेन उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और अपने लक्ष्य में सफल भी होता है; इसी का वर्णन 'पद्मावत' के पूर्वार्द्ध में किया गया है। पद्मावत के उत्तरार्ध में किस प्रकार पद्मावती का सौंदर्य वर्णन सुनकर अलाउद्दीन पद्मिनी को प्राप्त करने का प्रयास करता है और किस प्रकार रत्नसेन का दुखद अंत होता है तथा पद्मावती के जौहर आदि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार पद्मावत में प्रेम वर्णन की ही विशेषता है। आचार्य शुक्लजी ने उचित ही लिखा है। "प्रेमगाथा की परंपरा में पद्मावत सबसे प्रौढ़ और सरस है।"

शृंगार के भी दो प्रकार होते हैं—संयोग पक्ष और वियोग पक्ष। जायसी ने दोनों प्रकार के शृंगार का वर्णन किया है। संयोग-शृंगार का एक उदाहरण देखिए—

चतुर नारि चित्त अधिक चिहुँटी। जहाँ प्रेम बाढ़ै किमि छुटी॥
कुरला कामकेरि मनुहारी। कुरला जेहिं नहिं सो न सु नारी॥
गेंद गोद कै जानहु लई। गेंद चाहि धन कोमल भई॥
दारिउँ, दाख, बेल रस चाखा। पिय के खेल धनि जीवन राखा॥
भयउ बसंत कली मुख खोली। बैन सुहावन कोकिल बोली॥

वियोग शृंगार का वर्णन करने में जायसी को अप्रतिम सफलता मिली है। यद्यपि जायसी का वियोग वर्णन कहीं-कहीं अत्युक्ति की सीमा को भी लांघ गया है पर तो भी उसमें गंभीरता अवश्य है।

दुःख की भावनाएँ सर्वदा ही हृदयस्पर्शी होती हैं। यद्यपि मनुष्य सर्वदा ही आनंद प्राप्त करना चाहता है परंतु विरहावस्था में भी उसे आनंद प्राप्त होता है। मानस की तीव्र वेदना से मनुष्य व्यथित अवश्य होता है परंतु यदि उसके हृदय में विरह भी न हो तो उसका जीवन अंधकारमय हो जाय। इस विरह के सहारे ही वह जीवित रहता है। 'प्रसादजी' ने 'आँसू' में लिखा भी है—

मणिदीप विश्व मंदिर की
पहने किरणों की माला।
तुम एक अकेला तब भी
जलती हो मेरी ज्वाला॥

विरह में वेदना का होना स्वाभाविक ही है। प्रेमियों के सम्मिलन पर मानस में आनंद का उद्रेक तो होता ही है पर विरह में वेदना भी होती है। श्रीसुमित्रानंदन पंतजी ने 'ग्रंथि' में लिखा भी है:—

वेदना! कैसा करुण उद्गार है?
वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह,
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में,
तारकों में, व्योम में है वेदना।

Blessed are they that weep, for they shall be comforted.

जायसी की काव्य कला कुशलता का परिचय उनके विरह-वर्णन से भी मिलता है। पद्मावत में वियोग वर्णन बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। नागमती का विरह वर्णन हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है। विरह वर्णन के अन्तर्गत प्रकृतिवर्णन भी किया गया है। नायिका की मनोदशा पर प्रकृति का क्या प्रभाव पड़ा यह बड़े सुन्दर ढंग से लिखा गया है। नागमती के अश्रुओं से संपूर्ण सृष्टि भीगी सी प्रतीत होती है—

कुहुकि-कुहुकि जस कोइल रोई। रकत-आँसु घुँघुची बन बोई।
जहँ-जहँ ठाढ़ि होइ बन बासी। तहँ-तहँ होइ घुँघुचि कै रासी॥

बूंद-बूंद महं जानउ जीऊ। गुंजा गूंजि करै पिउ-पीऊ।
तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू-बूड़ि उठे होइ राते।
राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गोहूं॥

नागमती के विरह वर्णन के अंतर्गत ही वह प्रसिद्ध बारहमासा है जिसमें विरह का अत्यंत सुंदर चित्रण है। इस बारहमासे में वर्ष के बारहों महीनों का वर्णन विप्रलंभ शृंगार की उद्दीपन की दृष्टि से किया गया है। प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ प्रेमी के मानस की साहचर्य्य भावना का सुंदर वर्णन है। भावुकता का भी समावेश इस वर्णन में है। नागमती की वियोग दशा का वर्णन करते समय जायसी ये भूल से गए हैं कि वे किसी रानी की वियोग दशा का वर्णन कर रहे हैं। नागमती अपने को एक साधारण स्त्री समझती है और इसीलिए चौमासे में पती के न रहने से गृह की जो दशा होती है उसका वर्णन वह इस प्रकार करती है:—

पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह, मंदिर को छावा।

जायसी ने विरह-वर्णन करते समय अत्युक्ति से भी काम लिया है। विरहताप की अधिकता से वारिद श्याम से हो गए हैं, राहू केतु काले हो गए हैं अर्थात् झुलस से गए हैं, मार्तण्ड तप रहा है, सुधाकर की कला खंडित हो गई है और पलास के पुष्प अंगारों के समान दहकते हुए लाल हैं:—

अस परजरा विरह कर गठा। मेघ साम भए धूम जो उठा।
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरज जरा, चाँद जरि आधा॥
और सब नखत तराइं जरहीं। टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं।
जरे सो धरती ठावहिं ठाऊं। दहकि पलास जरै तेहि दाऊं॥

इस विरह वर्णन में अत्युक्ति अवश्य है पर इसे मजाक समझना भूल है। वियोग में ऐसी दशा हो भी सकती है। यद्यपि जायसी ने हिन्दू जीवन का परिचय देने वाले भावों की ही व्यंजना की है परन्तु कहीं कहीं फारसी साहित्य के प्रभाव में आ उन्होंने वियोग दशा में

वर्णन में वीभत्स-चित्र भी प्रस्तुत किए हैं। इस प्रकार का वियोग वर्णन उपहासास्पद ही कहा जावेगा।

विरह-सरागन्हि भूँजै माँसू। गिरि गिरि परै रकत कै आँसू।
कटि कटि माँसु सराग पिरोवा। रकत कै आँसु माँसु सब रोवा॥
खिन एक बार माँसु अस भूँजा। खिनहिं चबाइ सिंघ अस भूँजा।

परन्तु इस प्रकार के वर्णन बहुत थोड़े से हैं और प्रायः सर्वत्र ही विशुद्ध प्रेम की झलक दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी प्रेम वर्णन में पूर्ण सफल रहे हैं।

शृंगार के उपरान्त 'पद्मावत' में वीर रस के वर्णनों की अधिकता है। 'पद्मावत' में युद्ध वर्णन बड़ा ही कलापूर्ण है और वीर रस पूर्ण है। पद्मावत में निम्नलिखित उल्लेखनीय युद्धों का वर्णन है—अलाउद्दीन और रत्नसेन, गोरा-बादल और अलाउद्दीन, रत्नसेन और देवपाल। जायसी की वर्णनशैली बड़ी सुन्दर है और उन्हें युद्ध- वर्णनों में पूर्ण सफलता मिली है। अलाउद्दीन और गोरा-बादल के युद्ध का वर्णन देखिए—

ओनई घटा चहूँदिसि आई। छूटहिं बान मेघ झिर लाई॥
हाथन्ह गहे खड्ग हरद्वानी। चमकहिं सेल बीजु कै बानी॥
रुण्ड-मुण्ड अब टूटहिं ज्यों बखतर और कूंड़।
तुरय होहिं बिनु काँधे हस्ति होहिं बिनु सूँड़।

कहीं-कहीं जायसी ने शृंगार को वीर रूप दिया है परंतु ऐसा करने में चाहे कवित्व अवश्य निखर उठे पर रस व्यंजना का ह्रास सा हो गया है। जायसी की भाषा पर विचार करते समय हमने इस प्रकार का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। युद्ध भूमि में डाकनियों का वीभत्स-दृश्य कवि ने इस प्रकार दिखलाया है—

आनंद ब्याह करहिं मँस खावा। अब भख जनम-जनम कहँ पावा॥
चौंसठि जोगिनि खप्पर पूरा। बिग जम्बुक घर बाजहिं तूरा॥
गिद्ध चील सब मण्डप छावहिं। काग कलाल करहिं और गावहिं॥

मोको कहाँ ढूंढ़े बंदे मैं तो तेरे पास में !
ना मैं देवल, ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में !!

जायसी ने भी इसी प्रकार अंतरसाधना को ही महान माना है—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई।
कोरे मिलाव, कहौं केहि रोई॥

पद्मावत में आध्यात्मिकता भी है। जायसी ने पद्मावत के अंत में लिखा है—

मैं एहि अरथ पंडिन्तह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा।
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुद्धि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेहि पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा?
नागमती यह दुनिया-धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥
प्रेम-कथा एहिं भाँति बिचारहु। बूझि लेउ जो बूझै पारहु॥

इस प्रकार 'पद्मावत' में सिंघल की पद्मिनी अथवा हृदय में रहने वाली बुद्धि किस प्रकार प्राप्त हो सकती है इस पर प्रकाश डाला गया है। जायसी नागमती को गोरख धंधा कहते हैं और अलाउद्दीन को माया। यदि मनुष्य दुनियाँ के गोरखधंधे में ही फँसा रहा तो वह उन्नति नहीं कर सकता। इस विश्व से मुक्ति पाने के हेतु बुद्धि से संयोग आवश्यक है। बुद्धि सद्गुरु की सहायता से ही रत्नसेन बुद्धि को प्राप्त कर सका। यद्यपि पद्मिनी को प्राप्त करने का प्रयत्न रत्नसेन और अलाउद्दीन दोनों ही करते हैं परंतु दोनों की भावना में भेद है। दोनों के गुरु भी भिन्न भिन्न हैं। रत्नसेन को सद्गुरु की सहायता मिली जब कि अलाउद्दीन को राघवचेतन शैतान की। सिंघल की यात्रा में जायसी ने राघवचेतन का उल्लेख तक नहीं किया है। इसका कारण यही है कि सद्गुरु और शैतान दोनों एक साथ नहीं हो सकते।

इस प्रकार पद्मावत में कल्पना और इतिहास के साथ साथ जायसी के सिद्धांतों का भी समावेश है। जिस प्रकार सिद्ध लोग अपनी बानियों के दूसरे दूसरे अर्थ किया करते थे ठीक उसी प्रकार पद्मावत की कथा के भी दूसरे दूसरे अर्थ किए जा सकते हैं। पद्मावत का साहित्यिक महत्व तो है ही आध्यात्मिक महत्त्व भी है। इस प्रकार हमारी समझ में पंडित चंद्रबली जी पांडे ने उचित ही लिखा है - "निश्चय ही जायसी की 'पद्मावत' में जायसी की साधना है, जायसी का सिद्धांत है, जायसी का साहित्य है, जायसी का सुभाषित है और है जायसी का संसार भी। जायसी के संस्कार के साथ साथ इसमें जायसी की सभ्यता और जायसी की साध भी है।

सूरदास

परिचय

शनैः शनैः भक्ति के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुआ। भावुक जनता निराकार की उपासना से संतुष्ट न हो सकी। यद्यपि सैकड़ों वर्ष पूर्व ही पुराणों में अवतारों की चर्चा की गई थी परंतु विक्रम १६ वीं शताब्दी में निर्गुण के स्थान पर शनैः शनैः सगुण की उपासना की जाने लगी। जनता को उपासना के हेतु ईश्वर का कुछ न कुछ प्रतीक चाहिए। कहने मात्र से ही विश्वास नहीं हो जाता कि ईश्वर भी कुछ है। निर्गुण पंथियों की अंतरसाधना का स्थायी प्रभाव जनता पर पड़ न सका। साथ ही कबीर और नानक के निधन के उपरांत उनके शिष्यों ने अपने गुरु को ही ईश्वर के सदृश्य पूजना प्रारंभ कर दिया और कबीर ईश्वर के अवतार समझे जाने लगे। किसी भी धर्म को देखा जाय, ईश्वर का कुछ न कुछ स्वरूप स्वीकार किया ही गया है। बौद्ध धर्मावलम्बियों ने गौतमबुद्ध को ईश्वर माना है जब कि बुद्ध ईश्वर को नहीं मानते थे; जैन धर्मावलम्बियों ने भी तीर्थङ्करों की उपासना प्रारंभ की और रोमनकैथलिक भी ईसा और महंतों की उपासना आज भी करते हैं तथा मुसलमान भी पीरों की उपासना करते हैं और मुहम्मद साहिब को पूजते हैं। इस प्रकार सगुणोपासना स्वाभाविक ही है। निर्गुण की उपासना से संतोष न होने पर सगुण की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही कहा जावेगा। साकार उपासना की ओर आकर्षित होने पर अवतारों पर भी जनता की श्रद्धा हो चली। यद्यपि परमेश्वर के चौबीस अवतार माने जाते हैं पर प्रधानता उनमें राम और कृष्ण नामक दो अवतारों को ही मिली। जिस प्रकार भक्ति काव्य के

अंतर्गत निर्गुण पंथियों की दो शाखाएँ ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेममार्गी शाखा नामक हुई उसी प्रकार सगुणोपासक भक्त कवियों की भी दो शाखाएँ रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा नामक हुई। हिंदी काव्य में कृष्ण काव्य की नींव विद्यापति ने डाली और शनैः शनैः कृष्णभक्ति शाखा के कवियों ने उसे विकसित किया। सूरदास इसी कृष्ण भक्ति शाखा के उज्ज्वल्य मान रत्न हैं।

सूर का जीवन वृत्त प्रायः तिमिराछन्न ही है। गोस्वामी गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता के आधार पर सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण माना जाता है। वार्ता के अनुसार इनके पिता का नाम रामदास था और ये देहली के आसपास सीही ग्राम में उत्पन्न हुए थे। वार्ता में सूरदास के जीवन की कुछ और घटनाएँ भी दी गई हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा का कहना है कि 'वार्ता' में सूरदास को गऊघाट का रहनेवाला बतलाया गया है— 'सो गऊघाट ऊपर सूरदास जी को स्थल हुतो' यह गऊघाट आगरा और मथुरा के बीच की सड़क पर रुनकुता के पास है। परंतु श्री हरिराय जी कृत 'भाव प्रकाश' में जिसे कि वार्ता की टीका भी कहा जाता है, लिखा है—"सो सूरदास जी दिल्ली के पास चारि कोस उरे में एक सीही गाम है, जहाँ राजा परीक्षित के बेटा जन्मेजय ने सर्पयज्ञ कियो है। सो ता ग्राम में एक सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ प्रकटे।"

सूरदास की 'साहित्य लहरी' के अन्त में एक पद है जिसमें सूर की वंशपरम्परा का वर्णन है! चंद बरदाई के परिचय में इस पद को हम उद्धृत कर चुके हैं और इस पद के आधार पर सूर चंद के वंशज ब्रह्मभट्ट माने जा सकते हैं परन्तु विद्वानों ने प्रमाणों सहित सिद्ध कर दिया है कि यह पद सूर का लिखा हुआ नहीं है तथा इसे किसी भाट ने 'साहित्यलहरी' में पीछे से जोड़ दिया है। इस प्रकार सूर के जीवन का प्रमाणिक वृत्तान्त मिलना दुस्तर ही है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के रचियता गोसाईं गोकुलनाथ जी सूर के सम

सामयिक थे पर वार्ता को भी पूर्णतः प्रामाणिक नहीं माना जाता और इसे स्वामी जी के किसी शिष्य द्वारा लिखा हुआ कहा जाता है।

सूरदास का जन्म संवत् १५४० वि० के लगभग हुआ था। शिवसिंह सरोज में इनका जन्मकाल वि० सं० १६४० लिखा हुआ है जो किसी भी भाँति प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। संवत् १६२० के लगभग सूरदास का निधन हुआ। बाबू राधाकृष्ण दास का कहना है कि "मुझे उनकी अवस्था लगभग अस्सी वर्ष होने का पक्का प्रमाण मिला है।" परन्तु उन्होंने कोई पक्का प्रमाण दिया नहीं है। 'सूरसागर' समाप्त करने पर सूरदास ने 'सूर सारावली' की रचना की जिसमें उन्होंने अपनी अवस्था ६७ वर्ष की लिखी है :—

गुरु-परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन ॥

इस प्रकार ६७ वर्ष के कुछ पूर्व ही उन्होंने 'सूर सागर' लिख डाला था। सूरसागर समाप्त होने पर ही उन्होंने 'सूरसारावली' की रचना की होगी क्योंकि 'सूरसारावली' एक प्रकार से 'सूर सागर' की सूची है। 'साहित्य लहरी' नामक एक और पुस्तक सूरदास की लिखी हुई कही जाती है जिसमें दृष्ट-कूट पदों का संग्रह है। इसका रचनाकाल इस प्रकार दिया गया है :—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनंद को लिखि सुवल संबत पेख ॥
नंदनंदन मास छौ ते हीन तृतिया बार।
नंदनंदन जनमते हैं बाण सुख आगार ॥
तृतिय ऋक्ष सुकर्म्म जोग विचारि सूर नवीन।
नंदनंदन दास हित साहित्यलहरी कीन ॥

इस प्रकार संवत् १६०७ में 'साहित्य लहरी' समाप्त हुई। यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि साहित्य लहरी और सूरसारावली की रचना सूरदास ने सूरसागर समाप्त हो जाने के उपरांत ही की। मिश्रबंधुओं का अनुमान है कि साहित्य लहरी और सूर सारावली की

रचना सूरदास ने लगभग एक ही समय की। इस प्रकार सं० १६०७ में सूरदास ६७ वर्ष के थे और अब यदि उनकी आयु ८० वर्ष की मानी जावे तो उनका समय वि० सं० १५४० से वि० सं० १६२० तक के लगभग ही माना जा सकता है।

भक्तमाल में सूरदास के विषय में एक छप्पय लिखा हुआ है जिसमें उन्हें अंधा कहा जा सकता है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में ये जन्मांध नहीं माने गए। इस विषय में एक किम्वदंती भी प्रचलित है कि किसी युवती को देखकर सूर आसक्त हो गए और उससे सहरमण की इच्छा प्रकट की परंतु उसी समय उन्हें सच्चा ज्ञान उत्पन्न हुआ और उन्होंने अपने नेत्रों को दोषी माना। रहीम के निम्नांकित दोहे के—

मन को कहाँ रहीम प्रभु, हम सों कहाँ दिवान।
देखि दृगन जो आदरैं, मन तेहि हाथ बिकान॥

अनुसार उन्होंने अपने नेत्रों को ही दोषी माना और शीघ्र ही दो सुइयों से अपने दोनों नेत्र फोड़ डाले। सूर ने अपनी आँखों के विषय में कई स्थलों पर लिखा है:—

सूर की एक आँख है ताहू में कछु कानी।

और:—

सूरदास सों कहा निहारौ नैननि हूँ की हानि॥

और भी—

सूर कूर, आँधरौ, मैं द्वार परयौ गाऊँ।

तथा:—

सूरजदास अंध, अपराधी, सो काहैं बिसरायौ।

परंतु जैसा कि कई विद्वानों का मत है, सूर को जन्मांध नहीं कहा जा सकता क्योंकि सौंदर्य का जितना सुंदर वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई भी अंधा नहीं कर सकता।

सूरदास वल्लभाचार्यजी के शिष्य थे। सूर के पदों को श्रवण कर वल्लभाचार्य ने उन्हें अपने श्रीनाथजी के मंदिर की कीर्तन सेवा सौंपी।

'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में लिखा हुआ है—"औरहु पद गाए तब श्रीमहाप्रभुजी अपने मन में विचारे जो श्रीनाथजी के यहाँ और तो सब सेवा को मडान भयो है, पर कीर्तन को मंडान नाहीं कियो है; तातें अब सूरदास को दीजिए।" श्रीवल्लभाचार्य के उपरांत उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ गद्दी पर बैठे। उन्होंने पुष्टिमार्गी सर्वोत्तम कवियों को चुनकर अष्टछाप की। अष्टछाप में सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास आठ कवि हैं जिनमें सूरदास को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। पारा-सोली गाँव में गोसाईं विट्ठलनाथजी के सामने सूरदास का शरीरांत हुआ। मृत्यु के कुछ समय पूर्व कहते हैं कि गोसाईंजी के शिष्य 'चतुर्भुजदास' ने कहा है—"सूरदासजी परम भगवदीय हैं, और सूरदास जी ने श्रीठाकुरजी के लक्षाविधि पद किये हैं। परन्तु सूरदासजी ने श्रीआचार्यजी महाप्रभुन को जस बरनन नाहीं कियो।" सूरदास ने तदुपरांत उत्तर दिया कि—मैंने सब पद गुरुजी के ही बनाए हैं क्योंकि श्रीकृष्णचंद्र और मेरे गुरुजी में कुछ भी अंतर नहीं है। इतने पर भी उन्होंने निम्नांकित पद रचा :—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्रीवल्लभ-नख-चंद-छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो॥
साधन और नहीं या कलि मैं, जासों होत निवेरो।
'सूर' कहा कहि दुविधि आँधेरो, बिना मोल को चेरो॥

राधाकृष्ण के एक और पद गाते-गाते सूर के लोचनों में अश्रु भर आए तब श्रीगोस्वामीजी ने पूछा कि सूरदासजी नेत्र की वृत्ति कहाँ है। सूर ने निम्नांकित पद कहा और अपना शरीर त्याग दिया :—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु, चपल, अनियारे पल पिंजरा न समाते॥
चलि-चलि जात निकट, स्रवनन के उलटि-उलटि ताँटक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नातक अब उड़ि जाते॥

कहा जाता है कि सूरदास जी भगवान श्रीकृष्ण के सखा उद्धव के अवतार थे।

सूरदास जी के सूरसागर, सूरसारावली, साहित्यलहरी नल-दमयंती, ब्याहलो और हरिवंश टीका ६ ग्रंथ कहे जाते हैं परन्तु अंतिम तीन अप्राप्य हैं और ठीक-ठीक यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये इन्हीं सूरदास के लिखे हुए हैं। सूर सारावली और साहित्यलहरी सूरसागर से निकाली गई हैं। इस प्रकार सूरदास का प्रधान ग्रंथ सूरसागर ही कहा जा सकता है। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने 'विचार धारा' नामक निबंध संग्रह में लिखा है कि "सूरसागर श्रीमद्भागवत् की काव्यमयी छाया है, किंतु अनुवाद नहीं है।" सूरदास ने स्वयं ही कई बार कहा है कि मैं केवल भागवत के अनुरूप कथा कहता हूँ, परंतु इसे कोरा अनुवाद ही न समझना चाहिए। सूरसागर की कविता सूर की निजी संपत्ति है पर हाँ कथा अवश्य श्रीमद्भागवत की है—
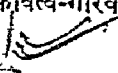
> श्रीमुख चारि श्लोक दिये ब्रह्मा को समुझाइ।
> ब्रह्मा नारद सों कहे नारद व्यास सुनाइ॥
> व्यास कहे शुकदेव सों द्वादश स्कंध बनाइ।
> सूरदास सोई कहे पद भाषा कर गाइ॥

कहते हैं कि सूरसागर में एक लाख पद हैं परंतु पूरे पद अभी तक प्राप्त नहीं हो सके हैं। पाँच हजार से अधिक पद प्राप्त नहीं होते अतएव ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता कि क्या वास्तव में सूर ने एक लाख पदों की रचना की है। सूरसागर भी श्रीमद्भागवत के सदृश्य बारह स्कंधों में समाप्त हुआ है परतु दशम् स्कंध के पूर्वार्द्ध के अतिरिक्त शेष अन्य स्कंध बहुत छोटे हैं। सूरसागर का अकेला दशम् स्कंध ही सूर के कवित्व-गौरव का द्योतक कहा जा सकता है।

भाषा— ब्रज भाषा—

भाषा के विचार से सूरदास प्रथम कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया। चंद की भाषा में भी ब्रजभाषा की झलक

काव्य भाषा

देख पड़ती है और कबीर आदि संतों के पदों की भाषा भी ब्रजभाषा ही है परंतु भाषा-सौष्ठव के दृष्टिकोण से सूरदास ही ब्रजभाषा के प्रथम उत्कृष्ट कवि ठहरते हैं। चौरासी वैष्णवों की वार्ता और दो सौ बावन वैष्णवों वार्ता की भी भाषा ब्रजभाषा ही है परंतु उनमें वह साहित्यिक छटा दृष्टिगोचर नहीं होती जो सूर की भाषा में है। इन वार्ताओं के रचयिताओं का उद्देश्य धर्म-प्रचार था अतः उनमें साहित्यिक सौंदर्य का अभाव होना स्वाभाविक ही है। सूरदास की भाषा संस्कृत-मिश्रित साहित्यिक है। सूर ने सर्वथा प्रसंगानुकूल भाषा में ही रचना की है। भाषा सर्वत्र ही भावों की अनुगामिनी रही है। सूर की भाषा में ओज गुण बहुत कम पाया जाता है क्योंकि सूर ने उन्हीं स्थलों को चुना है जहाँ माधुर्य और प्रसाद की आवश्यकता पड़ी। कंसवध या ऐसी ही एक दो घटनाओं में ओज गुण का समावेश है नहीं तो सर्वथा माधुर्य और प्रसाद गुणों की ही अधिकता है। सूर की माधुर्यमयी भाषा का एक उदाहरण देखिए :-

स्याम विनोदी रे मधुबनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे को आवहिं चाहत नव यौवनियाँ॥
दिना चार तें पहिरन सीखे पट पीताम्बर तनियाँ।
सूरदास प्रभु तजी कामरी अब हरि भए चिकनियाँ॥

सूर शब्द योजना में पूर्ण सफल रहे हैं। वे कुशल शब्दशिल्पी थे। उनकी भाषा में संगीत का तारतम्य सा पाया जाता है। सूर ने ब्रजभाषा को सार्वदेशिक भाषा बना दिया और ब्रजभाषा को वह गौरव प्रदान किया कि अभी भी ब्रजभाषा में रचना हो रही है। हिंदी साहित्य के आदि काल से लेकर आज तक ब्रजभाषा का प्रवाह अक्षुण्ण बना रहा। सूर का सा भाषा-सौष्ठव बहुत कम कवियों की रचनाओं में देख पड़ता है।

सूर अलंकार व्यंजना में भी सफल रहे हैं। शब्दालंकारों और अर्थालंकारों दोनों के प्रयोग में सूर को सफलता प्राप्त हुई है। सूर की

भाषा में अलंकारों की योजना स्वाभाविक ही है; कवि को अलंकार योजना में परिश्रम नहीं करना पड़ा। अनुप्रास और यमक दोनों की अधिकता इनकी कृति में पाई जाती है। सूर का सबसे प्रिय अलंकार रूपक है। देखिए, पावस का रूपक किस प्रकार यहां प्रस्तुत किया गया है:—

शिखनि शिखर चढ़ि टेर सुनायो।
विरहिन सावधान ह्वै रहियो सजि पावस दल आयो॥
नव बादल बानैत पवन ताजी चढ़ि चुटकि दिखायो।
चमकत बीजु शैलकर मंडित गरजि निशान बजायो॥
दादुर मोर चातक पिक के गण सब मिलि मारू गायो।
मदन सुभट करवाण पंच लै ब्रजतन सन्मुख धायो॥
जानि विदेश नंद को नंदन अबलन त्रास दिखायो।
सूर श्याम पहिले गुण सुमिरहिं प्राण जात चिरभायौ॥

रूप वर्णन करते समय भी इन्होंने रूपक की सहायता ली है। सूर के संयोग शृंगार में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा की बाहुल्यता है। उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण देखिए—

नील स्वेत पर पीत लाल मनि लटकन भाल रुराई।
सनि, गुरु, असुर, देवगुरु मिलि मानों भौम सहित समुदाई॥

वियोग वर्णन में स्वभावोक्ति भी पाई जाती है। भ्रमरगीत में व्यंग्य पूर्ण कथन भी है। सूर ने 'ट' वर्ण को भी प्रसंगानुकूल अपनाया है और उसमें वे सफल भी रहे हैं। सूर की भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों की भी बाहुल्यता है। सूर की भाषा में लाक्षणिकता भी है। सूरदास ने दृष्टिकूट वाले पद भी लिखे हैं। 'सारंग' शब्द को लेकर उन्होंने कई कूट पद कहे हैं—

जानि हठ करहु सारँग-नैनी।
सारँग ससि सारँग पर सारँग, ता सारँग पर सारँग बैनी॥
सारँग रसन दसन गुनि सारँग, सारँगयुत दृढ़ निरखनि पैनी।
सारँग कहो सु कौन विचारो, सारँग पति सारँग रचि सैनी॥

सारंग सदनहिं लै जु बहन गए, अजहुँ न मानत गत भइ रैनी।
सूरदास प्रभु तब मग जोवै, अंधकरिपु ना रिपु सुख दैनी॥

सूर की भाषा में दोष बहुत कम है। कहीं-कहीं भाषा दुरूह भी हो गई है और अरबी, फारसी के भी कुछ शब्द मिलते हैं। गोड़, आपन, मोर हमार आदि पूरबी प्रयोग और मँहगी के अर्थ में प्यारी जैसे पंजाबी शब्द भी सूर के पदों में मिलते हैं। अवधी के पुराने रूपों का प्रयोग भी सूर ने किया है और अपभ्रंश के भी कुछ शब्द पाए जाते हैं। परंतु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। साथ ही इन उदाहरणों से यह भी ज्ञात होता है कि ब्रजभाषा उस समय व्यापक काव्यभाषा के रूप में व्यवहृत थी। इस प्रकार सूर की भाषा में दोष देखना ही भूल है। सूर की भाषा सबल, सजीव और सरस है। सूर के भाषा सौंदर्य पर मुग्ध होकर किसी ने उचित ही लिखा है—

उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बलबीर।
केसव अरथ गँभीरता सूर तीनि गुन धीर।

काव्य-सुषमा

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि श्री वल्लभाचार्य की आज्ञा से सूर ने श्रीमद्भागवत की कथा को पदों में गाया। कहते हैं कि सूर ने वल्लभाचार्य जी को पहले प्रार्थना संबंधी एक दो पद सुनाए तब खीझकर गोसाईं जी ने कहा—"सूर ह्वै के ऐसो घिघियात काहे को है, कछु भगवल्लीला वर्णन करि।" तब सूर ने श्रीकृष्ण लीला गाई। सूर ने पदों को अपनाया अर्थात् हिंदी गीति-काल को अलंकृत किया है। पिंगल की दृष्टि से रोला, घनाक्षरी आदि छंद भी सूरसागर में मिलते हैं परंतु यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सूर ने रागों को ध्यान में रखकर रचना की है। गीतिकाव्य की परंपरा अत्यधिक प्राचीन है। हमारा गीति-काव्य उतना ही प्राचीन कहा जा सकता है जितने कि वेद, क्योंकि वेदों के मंत्रों में भी संगीत का तारतम्य सा है। गीतिकाव्य

में भावों के साथ राग संगीत अथवा स्वर साधना भी आवश्यकीय है। हिंदी में गीतिकाव्य की परंपरा विद्यापति से चली, यद्यपि सिद्धों ने भी गीत रचे थे। विद्यापति के उपरांत कबीर, नानक आदि संतों ने सुमधुर गीत रचे परंतु हिंदी गीति काव्य में प्रौढ़ता सूर के समय आई। सूर के गीतिकाव्य का क्षेत्र विस्तृत है। कृष्ण लीला का वर्णन करने में उन्होंने बड़े सुंदर-सुंदर गीत रचे। (सूरदास जी के पदों को पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है—विनय के पद, बाललीला के पद, सौंदर्य वर्णन संबंधी पद, मुरली विषयक पद और भ्रमरगीत।) पं० चंद्रबली पांडे ने सूरसागर को इन पाँच भागों में विभाजित किया है—विनय के पद, अवतार के पद, भागवी लीला के पद और विरह के पद।

विनय के पदों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर प्रतीत होता है कि सूरदास सच्चे भक्त थे। यद्यपि तुलसी की भाँति सूर दार्शनिक नहीं थे पर हाँ उनके पदों से उनकी अटल भक्ति झलकती है। जिस प्रकार तुलसी ने राम के भक्त होते हुए भी कृष्ण विषयक पद रचे हैं उसी प्रकार सूर ने भी कृष्णलीला का वर्णन करने के साथ-साथ राम विषयक पद रचे हैं। मानस की करुणभरी भावना सूर के पदों में बार-बार झलक उठती है। सगुणोपासना का समर्थन सूर ने इस प्रकार किया है:—

अविगति मति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस, अंतरगत ही भावै॥
मन-बानी को अगम, अगोचर, सो जानै, जो पावै।
रूप-रेख, गुन, जाति, जुगुति, बिनु, निरालंब मन धावै॥
सब बिधि अगम बिचारहिं, ताते सूर सगुन पद गावै॥

सूरदास की वर्णन शैली अद्भुत थी। सूर के प्रत्येक वस्तु को सांगोपांग कहने से पुनरावृत्ति सी हो गई है परंतु ऐसा करने से सूर की काव्यकला निखर सी उठी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दानुसार—"यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उस

जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्य-भूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची, वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। उन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिये कुछ छोड़ा ही नहीं।" यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि कृष्ण भक्त कवियों ने श्रीकृष्ण के मधुर रूप का ही वर्णन करना आवश्यक समझा और इस प्रकार काव्य हास विलास की ऊर्मियों से परिपूर्ण उदधि है जिसमें सौंदर्य की लहरें भी हिलोरें लेती हैं। इन कृष्ण भक्तों के कृष्ण लोक रक्षक नहीं हैं और न द्वारका के महावीर श्रीकृष्ण हैं बल्कि प्रेममयी गोपिकाओं के प्रियतम श्रीकृष्ण हैं। कृष्ण चरित का वर्णन जिस प्रकार जयदेव और विद्यापति ने किया उसी प्रकार ब्रजभाषा के भक्त कवियों ने भी। आगे चलकर रीतिकाल के कवियों ने भी अपनी कविताओं का विषय राधा और कृष्ण का प्रेम ही बनाया। इस प्रकार कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण की बाल लीला और यौवन लीला का ही वर्णन करना आवश्यक समझा। सूर ने भी यही किया। अतएव तुलसी और सूर दोनों के काव्य में बड़ा अंतर है। (तुलसी ने श्रीराम के लोकरक्षक के रूप को स्वीकार किया जब कि सूर ने बालकृष्ण और राधाकृष्ण के प्रेम का ही वर्णन किया।) परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि सूर अपने काव्य क्षेत्र में अद्वितीय थे और उस क्षेत्र में तुलसी भी उनकी समता नहीं कर सकते।।

कवियों के लिए बाललीला वास्तव में वर्णनीय विषय है। महात्मा ईसा का कथन है— Suffer little children to come unto me for such is the Kingdom of Heaven," अर्थात् छोटे-छोटे बच्चों को हमारे पास आने दो क्योंकि स्वर्ग का राज्य ही ऐसा है। वास्तव में यदि कहीं सरलता और पवित्रता है तो शिशु में ही है। विश्व के सभी प्रसिद्ध कवियों और चित्रकारों ने शैशव लीला का वर्णन किया है। महाकवि होमर ने अपने 'आडेसी' नामक काव्य में शिशु

मूलित्व का बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि कालिदास ने भी बड़ा ही सुंदर शिशु वर्णन किया है। परन्तु सूर का बाललीला का वर्णन इन सबने अद्वितीय है। श्रीकृष्ण के बाल रूप के वर्णन देखिए—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तनु-मंडित, मुख दधि लेप किए।
चारु कपोल लोल-लोचन-छबि रोचन तिलक दिए।

खेल में कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। श्रीकृष्ण को नंदजी के गोधन पर कुछ गर्व हो गया है इसलिए एक गोप-ग्वाला देते हुए कहता है—

खेलत में को काको गोसैयाँ?
जाति-पाँति हम तें कछु नाहिं, न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत याते, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।

माता अपने पुत्र को बड़ा प्यार करती है। पुत्र के सुख की चिंता तथा शंका ही जननी के मानस की वात्सल्य भावना है। शेक्सपियर ने कहा भी है:—

Where Love is great, the littlest doubts are Fears;
Where little fears grow great, great love is there.

सूर ने जननी की मानसिक भावनाओं का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। हृदय की अव्यक्त भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करने में उन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। यशोदा अपने बालकृष्ण को इस प्रकार मना रही हैं:—

काहे को आरि करत मेरे मोहन! यों तुम आँगन लोटी?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी॥
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुट लिए छोटी॥

सूर के वात्सल्य वर्णन की समता तुलसी भी नहीं कर सके। रामचरित मानस के वात्सल्य वर्णन का एक उदाहरण देखिए:—

इसके उत्तर में गोस्वामी तुलसीदास जी ने यह पद लिख भेजा—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, यद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषण बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज बनिता, भये सब मंगलकारी॥
नातो नेह राम सो मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँख जो फूटे बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह रामपद एही मतो हमारो॥

यद्यपि 'मूल गोसाईं चरित' में भी इस पत्र व्यवहार की घटना का उल्लेख किया गया है परंतु इसे प्रामाणिक मानने में संदेह ही है। मीरा का सं० १६०३ के आस पास निधन हुआ। कहते हैं कि वे द्वारका गईं जहाँ कि श्री रणछोड़ जी की मूर्ति में वे समा गईं।

मीरा के कुछ पदों का अवलोकन करने पर स्पष्ट ही विदित होता है कि वे रैदास जी को अपना गुरु मानती थीं। मीरा के पदों की कुछ पंक्तियाँ देखिए:—

१—रैदास संत मिले मोहिं सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी।
२—गुरुमिलिया रैदास जी दीन्हीं ज्ञान की गुटकी।
३—गुरु रैदास मिले मोहिं पूरे धुर से कलम भिड़ी।
४—मीरा ने गोविंद मिल्या जी, गुरु मिलिया रैदास॥

रैदास के समय का अभी कुछ ठीक-ठीक पता चला नहीं है अतएव इस विषय पर निश्चय पूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता, पर हो सकता है मीरा के गुरु रैदास रहे हों। मीराबाई की नरसी रो माहेरो, गीत गोविंद की टीका, राग गोविंद, सोरठ के पद, मीराबाई का मलार, गर्वागीत और स्फुट पद नामक रचनाएँ कही जाती हैं। इनमें से अधिकांश रचनाओं का तो पता नहीं चलता परंतु ५०० के करीब मीरा के पद अवश्य मिलते हैं।

भाषा

कबीर के सदृश्य मीरा के पदों के विषय में भी ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि जिस रूप में वे रचे गए थे उसी रूप में आज भी प्रचलित हैं। मीराबाई मेवाड़, वृन्दावन और द्वारिका आदि स्थानों में रह चुकी थीं अतएव उनकी भाषा में उन स्थानों के शब्दों का प्रयोग होना स्वाभाविक ही है। साथ ही समयानुसार उन पदों में परिवर्धन-संशोधन भी होता रहा और इस प्रकार कहीं-कहीं तो भाषा आधुनिकता के साँचे में ढली सी प्रतीत होती है। जिस प्रकार पृथ्वीराज रासो की भाषा को लक्ष्कर उसे अप्रामाणिक माना जाता है उसी प्रकार मीरा के कुछ पदों को भी जिनकी भाषा आधुनिकता के साँचे में ढली सी है मीरा रचित माना नहीं जा सकता।

मीरा के पदों में राजस्थानी, व्रजभाषा, गुजराती आदि भाषाओं की प्रमुखता है तथा साथ ही कहीं-कहीं पंजाबी, पूरबी और खड़ी बोली का भी प्रभाव है। चंद बरदाई की भाषा भी प्रायः पश्चिमी हिंदी या व्रजभाषा है और कहीं-कहीं राजस्थानी का पुट भी अवश्य है। कबीर आदि संतों ने जहाँ दोहों में सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग किया वहाँ पदों में व्रजभाषा का प्रयोग किया। इस प्रकार व्रजभाषा ही उस समय काव्य रचना के हेतु व्यवहृत की जाती थी। मीरा के पदों की भाषा में भी व्रजभाषा का ही प्रयोग किया गया और कहीं-कहीं शुद्ध व्रजभाषा की झलक देख पड़ती है। व्रजमाधुरी में सने हुए इन पदों का भाषा सौंदर्य निखरा हुआ है। मीरा के पदों की व्रजभाषा का एक उदाहरण देखिए—

> मीरा मन मानी सुरत सैल असमानी।
> जब-जब सुरत लगे वा घर की, पल-पल नैनन पानी॥

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि मीरा की भाषा पर अन्य भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है। राजस्थान में निवास होने से और

रहीं बाल्यकाल आदि व्यतीत होने से मीरा राजस्थानी से विशेष प्रभावित थीं। राजस्थानी का प्रभाव उनकी भाषा में स्पष्ट देख पड़ता है। राजस्थानी भाषा-युक्त कुछ उदाहरण देखिए :—

मैं तो पलक उघाड़ो दीनानाथ, मैं हाजिर नाजिर कब की खड़ी।
साजनियाँ दुसमण होय बैठ्या, सबने लगूँ कड़ी॥

और भी :—

कुल मरजादा री पाल मीराबाई भाँगी।
साँवरे किया सनमान, सूरज स्वामी अब क्यूँ॥

और भी :—

स्याम बिन सिखड़ी मुरझावै, जैसे जल बिन बेली।
मीरा कूँ प्रभु दरसण दीज्यो, जनम-जनम की चेली॥

राजस्थानी के साथ गुजराती का भी प्रभाव उनकी भाषा पर पड़ा है। गुजराती-भाषा-युक्त एक उदाहरण देखिए :—

प्रेमनी प्रेमनी रे प्रेमनी मने लागी कटारी प्रेमनी।
जल जमुना माँ भरवा गयाँताँ, हती गागर माथे हेम घोरे॥

इनके अतिरिक्त अरबी फारसी के भी शब्द उनकी कृतियों में पाए जाते हैं। खड़ी बोली के भी कुछ प्रयोग देख पड़ते हैं और कहीं-कहीं पंजाबी भाषा की झलक भी दृष्टिगोचर होती है :—

हो कानाँ किन गूँथी जुल्फाँ कारियाँ।

इन सब भाषाओं के प्रयोग से यह विदित होता है कि व्रजभाषा उस समय सर्वमान्य साहित्यिक भाषा बन चुकी थी। सूर ने जिस प्रकार व्रजभाषा को सार्वदेशिक भाषा बना दिया था वैसा ही मीरा ने भी किया। सूर का सा व्रज-माधुर्य कहीं-कहीं मीरा की भाषा में भी दृष्टिगोचर होता है। मीरा के पदों में सर्वत्र ही प्रसाद गुण की अधिकता है। सरलता, सुमधुरता और सरसता का भी समावेश है। व्रज-माधुरी का एक उदाहरण देखिए :—

बसो मोरे नैनन में नंदलाल ।
मोहनी मूरति साँवरी सूरत, नैना बने बिसाल ॥
अधर सुधारस मुरली राजत उर वैजन्ती माल ।
छुद्रघंटिका कटि तट सोभित नूपुर शब्द रसाल ॥
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भक्त बछल गोपाल ॥

मीरा के पदों में अलंकारों की भी छबीली छटा छहरा रही है। अलंकारों में सबसे अधिक प्रयोग रूपक का ही किया गया है तथा प्रायः कई पद रूपक पर ही आश्रित हैं। 'अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई' तथा 'भौ सागर अति जोर कहिये अनत ऊँड़ी धार, राम नाम का बाँध बेड़ा, उतर परले पार' जैसे रूपकों का स्वाभाविक प्रयोग रूपक के उपरांत उपमा और उत्प्रेक्षा का भी अधिक प्रयोग किया गया है। 'जल बिन कँवल चंद बिन रजनी' के सदृश्य उपमाएँ और 'कुंडल की अलक झलक कपोलन पर छाई। मनो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई' के सदृश्य उत्प्रेक्षाएँ भी मीरा की भाषा में हैं। रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त अनुप्रास, श्लेष, वीप्सा, अंत्युक्ति आदि अलंकारों का भी प्रयोग किया गया है। मीरा की भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों का भी उपयोग किया गया है। 'हाथ का मांजना,' 'हाथी से उतर कर गधे पर चढ़ना' और 'मन का काठ करना' जैसी लोकोक्तियाँ भी मीरा की भाषा में दृष्टिगोचर होती हैं।

व्याकरण के दृष्टिकोण से अवश्य मीरा की भाषा में अशुद्धियाँ हैं। कहीं-कहीं अशक्त और अव्यवस्थित शब्द योजना भी है तथा कहीं-कहीं प्रवाहहीन शब्दावली भी है। परंतु मीरा की भाषा की साहित्यिक दृष्टिकोण से समीक्षा करना अनुचित ही है। मीरा भक्त थीं और ईश्वर की प्रार्थना में जो उद्गार निकल पड़े उनकी समीक्षा साहित्यिक दृष्टिकोण से नहीं की जा सकती है तथा साथ ही मीरा ने चमत्कार प्रदर्शन की भी चेष्टा कहीं नहीं की है, इस प्रकार शास्त्रीय दृष्टिकोण से कुछ न कुछ दोष स्वाभाविक ही देख पड़ेंगे। परंतु इतने पर भी मीरा

की भाषा सुमधुर और सरस है तथा ऐसे स्थलों का निरा अभाव ही नहीं है जिनकी भाषा ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवियों तक से समता कर सकती है।

कवित्व

मीरा के काव्य में कलापक्ष से कहीं अधिक हृदयपक्ष की प्रधानता है। प्रेमयोगिनी मीरा के हृदयस्थल के भावों की अभिव्यंजना ही उनके पदों में की गई है। मीरा कवि से अधिक भक्त थीं। ईश्वर के प्रति प्रेम करना ही ईश्वर के प्रति भक्ति प्रदर्शित करना है। मीरा भी इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में तो महान थीं ही, कविता के क्षेत्र में भी महान थीं। मीरा के काव्य में संयोग और वियोग के बड़े सुंदर चित्र हैं। वियोगावस्था का हृदयस्पर्शी वर्णन मीरा ने किया है। मीरा के विरह वर्णन में शारीरिक तापादि का वर्णन प्रायः कम किया गया है और सर्वत्र हृदयग्राही भावव्यंजना ही देख पड़ती है। विरह गर्भित प्रेम की कितनी मनोरम अभिव्यंजना की गई है :—

हेरी मैं तो दरद दिवाणी।
मेरो दरद न जाणै कोय ॥

प्रेमयोगिनी मीरा के पदों की विशेषता मानस की विभिन्न अवस्थाओं के चित्रण में है। विरहावस्था में संयोग की जब सुहावनी घड़ियाँ स्मरण होती हैं तब दूनी दाह उपज उठती है। मीरा ने भी सम्मिलन की सुंदर घड़ियों का वर्णन किया है। प्रेम वर्णन में निस्संदेह मीरा अतुलनीय हैं और बहुत कम कवि ऐसी प्रेमानुभूति का चित्रण कर सके हैं।

मीराबाई की वर्णन शैली भी सुंदर थी। सौंदर्य वर्णन भी उन्होंने किया है। 'वृन्दावन' का मनोहर कलापूर्ण वर्णन किया गया है। मीरा के बारहमासे के वर्णन में भी मर्मस्पर्शी भावों की अभिव्यक्ति है। पावस और होली के वर्णन बड़े ही चित्ताकर्षक हैं। मीरा ने कृष्ण की बाललीला, नागलीला, चीरहरणलीला आदि लीलाओं का भी वर्णन किया है। मुरली विषयक पद भी अनूठे हैं। कहीं-कहीं भ्रमरगीतों के

समान उद्धव संबंधी कथाएँ भी हैं। इस प्रकार मीराबाई की वर्णन शैली वास्तव में प्रशंसनीय है।

मीरा ने सूफी कवियों के सदृश्य रहस्यवादी भावना का भी चित्रण किया है :—

नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहब पाऊँ।
इन नैनन मेरा साहब बसता, डरती पलक न जाऊँ री॥
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बार-बार बल जाऊँ री॥

मीरा ने अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण को अपने पति रूप में स्वीकार किया था। मीरा का आत्म-समर्पण गोपियों से अधिक उच्चतम था। मीरा अपने में और कृष्ण में तनिक भी अंतर न मानती थीं, वास्तव में वे कृष्णमय ही थीं। वासना विहीन शुद्ध प्रेम का ही प्रदर्शन मीरा ने किया है। माधुर्य भावनाओं का वर्णन करने से मीरा के काव्य में शृंगार और शांत की सफल व्यंजना हुई है।

मीरा ने सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकार किया था। संतमत के प्रभाव में आ उन्होंने निर्गुणोपासना को स्वीकार किया और रहस्यवादी भावनाएँ भी उनके काव्य में थीं तथा साथ ही सगुणोपासना की ओर भी उनकी रुचि थी। उन्होंने तीर्थयात्रा और अवतारों का वर्णन किया है। मीरा के पदों में व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं का भी मर्मस्पर्शी वर्णन है।

वास्तव में मीरा एक सफल कवियित्री थीं। उन्होंने जिस विषय को लिया उसका सुंदर वर्णन किया है। आत्मनिवेदन, आत्मक्रंदन, हृदय की कसक, प्रेम की पुकार, संगीत का प्रवाह, सुकुमार भावव्यंजना, माधुर्यता आदि गुण मीरा के पदों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। मीरा के पद हिंदी गीत काव्य की अक्षय-निधि हैं।

नंददास

परिचय

अष्टछाप के सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास नामक आठ कवियों में यदि सूरदास को सूर्य कहा जाय तो नंददास को ही चंद्र मानना उचित होगा। साहित्यिक दृष्टि से सूरदास के उपरांत नंददास का ही महत्व है। नंददास सूरदास के समकालीन थे परंतु नंददास के जीवन वृत्तांत के विषय में ठीक ठीक कुछ भी ज्ञान हो सका है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोकुलनाथ जी की लिखी हुई 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' में नंददास जी का थोड़ा सा जीवन वृत्त दिया गया है, उसका कुछ आवश्यकीय अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं :—

"सो वे नंददास पूर्व रहते, सो वे दोय भाई हते। सो बड़े भाई तुलसीदास हते और छोटे भाई नंददास हते, सो वे नंददास पढ़े बहुत हते।

नंददास तुलसीदास के छोटे भाई हते। सो विनकूँ नाच तमाशा देखवे को तथा गान सुनवे को शोक बहुत हतो सो वा देश में सूँ एक संग द्वारका जात हुतो। जब विनने तुलसीदास सूँ पूँछी' तब तुलसीदास जी श्री रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त हते। जासूँ विनवें द्वारका जायबे की नहीं कही। सो मथुरा सूधे गये। मथुरा में वा संग कूँ बहुत दिन लगे सो नंददास सँग कूँ छोड़ कर चल दीने।

सो तब कितनेक दिन में वह संग काशी में आन पहूँच्यो तब नंददास के बड़े भाई तुलसीदास हते, सो तिनने सुनी, जो यह संग श्री मथुराजी को आयो है। तब तुलसीदास ने संग में आय के पूछ्यो ।

जो वहाँ श्री मथुराजी श्री गोकुल में नंददास करि के एक ब्राह्मण के यहाँ भी गयो है, सो पहले वहाँ सुन्यो हतो, सो काहू ने देख्यो होय, तो कहौ। तब एक वैष्णव ने तुलसीदास सों कही, जो एक सनौढ़िया ब्राह्मण है, सो ताको नाम नंददास है, सो वह पढ़्यो बहुत है, सो वह नंददास तो श्री गुसाईं जी को सेवक भयो है।

सो एक दिन नंददास जी के मन में ऐसी आई, जो जैसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा करी है, सो हमहूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें। ये बात ब्राह्मण लोगन ने सुनी तब सब ब्राह्मण मिलके श्री गुसाईं जी के पास गये। सो ब्राह्मणों ने वीनती करी। जो श्रीमद्भागवत भाषा होयगी तो हमारी अजीविका जाती रहेगी। तब गुसाईं जी ने नंददास जी सुँ आज्ञा करी। जो तुम श्रीमद्भागवत भाषा मत करो और ब्राह्मण के क्लेश में मत परो। ब्रह्म-क्लेश आछो नहीं है और कीर्तन करके ब्रजलीला गाओ।"

'दोसौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' के वृत्तांतों की प्रामाणिकता पर जो संदेह किया ही जाता है पर साथ ही ठीक ठीक यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह वार्त्ता स्वयं गोकुलनाथ जी की लिखी हुई है क्योंकि वार्त्ता में कई स्थलों पर गोकुलनाथ की प्रशंसा की गई है और उनके मुख से निकली हुई वार्तों का बड़े सम्मान सहित उल्लेख किया गया है तथा वल्लभाचार्य जी की शिष्या न होने से मीरा को गालियाँ तक दी गई हैं। इस प्रकार संभव तो यही जान पड़ता है कि गोकुलनाथ के नाम पर उनके किसी शिष्य ने इसकी रचना की है। उपर्युक्त अवतरणों में जिन तुलसीदास जी का उल्लेख किया गया है उन्हें 'मानस' का रचयिता गोस्वामी तुलसीदास जी तो माना ही नहीं जा सकता क्योंकि न तो गोस्वामी जी ने ही कहीं नंददास का उल्लेख किया है और न तुलसीदास ऐसे हठधर्मी ही थे कि नंददास को द्वारका जाने से मना करते। इस प्रकार नंददास और तुलसीदास का सहोदर होना सिद्ध नहीं होता। नाभाजी के भक्तमाल में जो नंददास के विषय में छप्पय दिया

गया है उससे इतना ही ज्ञात होता है कि इनके भाई का नाम चंद्रहास था :—

चंद्रहास-अग्रज सुहृद परम-प्रेम-पथ में पगे।

वार्ता में यह भी लिखा हुआ है कि द्वारिका जाते हुए नंददासजी सिंधुनद ग्राम में एक रूपवती खत्रानी पर आसक्त हो गए। ये उस खत्री के घर के चारों ओर चक्कर लगाया करते थे। घरवालों ने इन्हें समझा बुझाकर हटाना चाहा पर ये किसी तरह न हटे तब घरवाले परेशान होकर कुछ दिनों के लिए गोकुल चले आए पर नंददासजी वहाँ भी आ पहुँचे। गोकुल आकर गोसाईं विट्ठलनाथ जी के सदुपदेश से इनका सारा मोह दूर हो गया और ये कृष्ण के अनन्य भक्त हो गए। नंददास जी के समसामायिक ध्रुवदास जी ने भी अपनी भक्त नामावली में नंददास का उल्लेख किया है परन्तु उन्होंने सिर्फ इनकी भक्ति की प्रशंसा ही की है इसके अतिरिक्त कुछ और उन्होंने नहीं लिखा। इस प्रकार नंददास का जीवन वृत्त तिमिराच्छन्न ही प्रतीत होता है और 'वार्ता' में दिए हुए उस थोड़े से जीवनवृत्त से ही संतोष करना पड़ता है यद्यपि उसे प्रामाणिक मानने में भी संदेह ही है।

नंददासजी की रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत, अनेकार्थ मंजरी और अनेकार्थमाला नामक चार पुस्तकें ही प्रकाशित हुई हैं परंतु इनके अतिरिक्त इन्होंने दशम स्कंध भागवत, रुक्मणी मंगल, रूपमंजरी, रस मंजरी, मानमंजरी, विरहमंजरी, सिद्धांत पंचाध्यायी, नामचिंतामणि माला, दानलीला, मानलीला, ज्ञानमंजरी, श्याम सगाई और सुदामा चरित आदि की रचना की है। हितोपदेश और नासिकेतु पुराण (गद्य में) नामक दो ग्रंथ भी इन्हीं के लिखे कहे जाते हैं। काव्य कला की दृष्टि से रासपंचाध्यायी और भ्रमर गीत ही प्रसिद्ध है। नंददास की रासपंचाध्यायी के अनुसरण पर रीतिकालीन कवि सोमनाथजी ने भी 'रासपंचाध्यायी' लिखी है 'भ्रमरगीत' की रचना सूर ने भी की है। भ्रमरगीत की परम्परा वास्तव में श्रीमद्भागवत से प्रारंभ हुई अभी तक

चल रही है। श्रीमद्भागवत का आधार लेकर सूर ने भ्रमरगीत की रचना की। सूर के उपरांत, हित वृंदावनदास, रघुराजसिंह आदि ने भ्रमरगीत की रचना की। आधुनिक युग के सत्यनारायण कविरत्न ने नंददास की शैली का अनुसरणकर 'भ्रमरदूत' की रचना की जिसमें भ्रमर को दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजा गया है। रत्नाकरजी के उद्धव शतक में और हरिऔधजी के प्रिय प्रवास में भी परंपरागत प्रसंग आया है।

नंददास का भ्रमरगीत हिंदी साहित्य के उत्कृष्ट ग्रंथों में गिना जाता है। श्रीमद्भागवत और सूरदासजी के भ्रमरगीतों से नंददासजी के भ्रमरगीत में कुछ अधिक विशेषताएँ हैं। नंददास के भ्रमरगीत में मनोहर उद्धव गोपी संवाद है तथा नंददास की गोपियाँ उद्धव को परास्त भी कर देती हैं। गोपियों की तन्मयता में श्याम का प्रत्यक्ष होना सर्वथा मौलिक है। सूर की गोपियाँ व्यंग्य करने में बड़ी पटु हैं परंतु नंददास की गोपियाँ उद्धव के तर्कों का उत्तर तर्क ही से देती हैं। निर्गुणोपासना का खंडन और सगुणोपासना का समर्थन भी किया गया है। उद्धव निर्गुणोपासना पर ज़ोर देते हैं परंतु गोपियाँ उद्धव के तर्कों को निर्मूल सिद्ध करती हैं और सगुणोपासना का ही समर्थन करती हैं।

भाषा

नंददास की भाषा ब्रजभाषा ही है। भाषा के तीन प्रधान गुण ओज, माधुर्य और प्रसाद में से माधुर्य और प्रसाद ही नंददास की भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं। नंददास ने ऐसे ही प्रसंगों को चुना है जहाँ कि ओज गुण की आवश्यकता नहीं है परंतु इतने पर भी 'ट' वर्ण प्रधान ओजगुण को भी शृंगार का सहायक बनाने में उन्हें अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है। देखिए—

छवि सों निर्त्तनि, पटकनि लटकनि, मंडल डोलनि।
कोटि अमृत सम मुसकनि, मंजुलता थेई-थेई बोलनि॥

नंददास की भाषा में मधुरता कूट-कूटकर भरी हुई है। प्रसाद गुण भी स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है। नंददास की भाषा अत्यंत सरल और प्रवाहमय है। सरल और प्रवाहमय भाषा का एक उदाहरण देखिए—

सुनत श्याम को नाम ग्राम गृह की सुधि भूली।
भरि आनन्द रस हृदय प्रेम वेली द्रुम फूली॥
पुलकि रोम सब अंग भये भरि आए जल नैन।
कंठ घुटे गद-गद गिरा बोले जात न बैन॥

नंददास की भाषा में अलंकारों की अभिव्यंजना भी है। भाषा पर कवि का इतना अधिक आधिपत्य था कि बस 'वाग् वश्यैवानुवर्तते'— वाणी तक उनके आधीन सी हो गई थी और इस प्रकार अलंकारों के प्रयोग में उन्होंने अशिखापादांत परिश्रम नहीं किया वरन् अलंकार आप ही आप उनकी भाषा में आ गए। अनुप्रास, रूपक, उपमा और संदेह के उदाहरण उनकी रचनाओं में मिलते हैं। 'प्रेम वेली द्रुम फूली' और 'कर्म के कूर' जैसे रूपकों का तथा 'तरंग न वारि ज्यों' जैसी उपमाओं का उनकी कृतियों में स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। परंतु उनकी भाषा में अलंकारों की बाहुल्यता नहीं है।

नंददास जी की शब्द योजना बड़ी सुंदर है। सर्वत्र कोमल कांत पदावली ही दृष्टिगोचर होती है। नंददास जी की भाषा में मुहावरों का भी सफल प्रयोग हुआ है। 'जबहीं लौ नहिं लखौ तबहिं लौ बाँधी मूठी' और 'घर आयो नाग न पूजहीं बाँबी पूजन जांहि' आदि मुहावरों का प्रयोग भी हुआ है। नंददास की भाषा में ध्वन्यात्मकता भी है और शब्दझंकृति के कई उदाहरण उनकी कृतियों में देख पड़ते हैं। नंददास की भाषा में विदेशी शब्दों का प्रायः अभाव सा है। कहीं कहीं उनकी भाषा में पूर्वी प्रभात भी पड़ा है जैसे 'है' के स्थान में उन्होंने 'आहि' का प्रयोग किया है।

नंददास की भाषा संगीतमय है। कहीं कहीं व्यंग्यपूर्ण कथन भी

है जिससे भाषा रोचक हो गई है। 'अनेकार्थ नाम माला' में इन्होंने एक ही शब्द के कई अर्थ किये हैं। इस प्रकार नंददास की भाषा बड़ी ही सुमधुर और सरल है। "और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया" नामक जो कहावत नंददास के विषय में प्रसिद्ध है वह वास्तव में उचित है और पूर्ण सत्य भी है।

काव्य-सुषमा

नंददास ने रास पंचाध्यायी में रासलीला का बड़ा सुंदर वर्णन किया है। बाबू गुलाबराय जी एम० ए० ने रासपंचाध्यायी के विषय में उचित ही लिखा है—"नंददास जी ने रासपंचाध्यायी को लौकिक शृंगार वर्णन के रूप में नहीं लिखा है। वे रासलीला को गोलोक की नित्य लीला का ही अंग मानते हैं। 'नित्य रास रमनीय नित्य गोपीजन वल्लभ' इस दृष्टिकोण से कम से कम भक्तों के लिये, नंददास के शृंगारिक वर्णनों की ऐन्द्रिकता उद्वेगजनक नहीं होती। लौकिक दृष्टि से भी रासपंचाध्यायी के वर्णन बड़े सजीव और सरस हैं।"

नंददास भावव्यंजना में पूर्ण सफल रहे हैं। ध्वनि का सुंदर चित्रमय वर्णन उन्होंने इन पंक्तियों में इस प्रकार किया है—

> नूपुर, कंकन, किंकनि, करतल, मंजुल मुरली।
> ताल, मृदंग, उपंग, चंग एकै सुर जुरली॥
> मृदुल-मधुर, टंकार, ताल झंकार मिली धुनि।
> मधुर्जंत्र की तार भंवर-गुंजार रली पुनि॥

रसव्यंजना भी उनकी अनुपम है। प्रधानतः शृंगार रसका ही वर्णन किया गया है पर शृंगार के अतिरिक्त शान्तरस की भी व्यंजना की गई है और कहीं कहीं हास्य की झलक भी देख पड़ती है। रासपंचाध्यायी में संयोग और वियोग दोनों प्रकार के शृंगार रस का वर्णन मिलता है तथा भ्रमर गीत में केवल विप्रलंभ शृंगार का। प्रेम वर्णन करने में नंददास पूर्ण सफल रहे हैं और विरह का बड़ा ही सुंदर जीता जागता चित्रोपम वर्णन उन्होंने किया है—

बिरहा कुल है गई सबै पूंछत वेली बन।
को जड़ को चैतन्य, न कछु जानत विरही जन॥
हे मालति, हे जाति, जूथके, सुनि हित दै चित।
मान हरन, मन-हरन लाल गिरिधरन लखे इत॥

गोपियों की मानसिक दशा का कलापूर्ण चित्रण किया गया है, सौंदर्य वर्णन भी प्रसंगानुसार किया गया है, रूप वर्णन भी कलापूर्ण ही है :—

कोउ दसनन दिये अधर बिंब गोविंदहिं ताड़त।
कोउ एक नैन चकोर चारु मुख चंद निहारत॥
कहुँ काजल कहुँ कुमकुम कहुं एक पीक लगी बर।
तहँ राजत ब्रजराज कुंवर कंदर्प–दर्प–हर॥

'भ्रमरगीत' में गोपियों की मधुर, मनोहारी, मर्मस्पर्शी वचनवक्रता और वाग्वैदग्धता दृष्टिगोचर होती है। दार्शनिकता और कला का बड़ा ही सुंदर योग है। प्रायः गोपियाँ अकाट्य तर्कों को ही प्रस्तुत करती हैं :—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ तें ?
बीज बिना तरु जमें मोहिं तुम कहो कहाँ तें ?
वा गुन की परछाँह री माया–दर्पन बीच।
गुन तें गुन न्यारे भये अमल बारि मिल कीच॥
सखा सुन स्याम के !

कलापक्ष और हृदयपक्ष दोनों का समान स्थान 'भ्रमरगीत' में है। नंददास की वर्णन शैली भी प्रशंसनीय है। कहीं तो प्रेम-विह्वलता का वर्णन किया गया है, कहीं विरह वेदना के चित्र प्रस्तुत किए गए हैं; कहीं गोपियों की तन्मयता का सुंदर वर्णन है और कहीं रूप-माधुरी की पिपासा का वर्णन किया गया है। इन दो ही छोटे-छोटे से ग्रंथों (रास पंचाध्यायी और भ्रमरगीत) में उनकी काव्य-कला-कुशलता का यथेष्ट परिचय मिलता है। वास्तव में नंददास सफल सत्कवि थे।

गोस्वामी तुलसीदास

परिचय

जिस प्रकार सूर कृष्ण भक्ति शाखा के सर्वप्रधान कवि हैं उसी प्रकार तुलसी राम भक्ति शाखा के प्रधान कवि हैं। तुलसी ने भी सगुणोपासना की ओर जनता को प्रेरित किया। तुलसी की भक्ति भावना की प्रमुख विशेषता यह है कि इन्होंने उस समय में प्रचलित शैव, शाक्त और वैष्णवों भक्तों का समान रूप से आदर किया। तुलसी के राम 'विधि हरि विष्णु नचावन हारे' हैं परंतु 'मानस' में कहीं तो राम की उपासना शंकर करते हैं और कहीं शंकर राम की। इस प्रकार तुलसी ने शैव, शाक्त और वैष्णवों के आपसी बढ़ते हुए मतभेद को कम करने का प्रयत्न किया है। तुलसी उपदेशक और कवि दोनों थे। इस प्रकार वे सच्चे भक्त तो थे ही पर कवि-सम्राट भी थे।

तुलसी का जीवन-वृत्तांत बाह्य प्रमाणों के आधार पर ही जाना जा सकता है। 'शिवसिंह सरोज' में लिखा हुआ है कि गोस्वामी तुलसीदास के एक शिष्य बाबा बेणीमाधवदास ने 'मूल गोसाईं चरित' नामक पुस्तक लिखी है जिसमें तुलसी का जीवन-वृत्तांत विस्तार के साथ दिया गया है। बाबू माताप्रसाद गुप्ता और आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने प्रमाणों सहित सिद्ध किया है कि 'मूल गोसाईं चरित' में लिखी हुई बहुत सी बातें इतिहास के सर्वथा विरुद्ध हैं। पं० इंद्रदेव नारायण त्रिवेदी ने 'मर्यादा' पत्रिका में एक लेख लिखकर इस बात पर प्रकाश डाला है कि गोस्वामी जी का एक और जीवन चरित्र भी है जिसे कि बाबा रघुबर दास ने 'तुलसी चरित' नामक लिखा है। परंतु इस 'तुलसी चरित' की प्रामाणिकता में भी संदेह ही है। 'तुलसी

चरित' और 'मूल गोसाईं चरित' में बहुत कुछ अंतर भी है। इनके अतिरिक्त नाभादास जी की भक्तमाल, भक्तमाल पर प्रियादास जी की टीका, रामचरित मानस की 'मानस मयंक' नामक प्राचीन टीका, राजा प्रताप सिंह का 'भक्त कल्पद्रुम' और रघुराजसिंह की 'रामरसिका वली' आदि से भी तुलसी के जीवन वृत्तांत के विषय में कुछ सामग्री मिलती परन्तु अभी सब मिलाकर उतनी सामग्री प्राप्त नहीं हुई जिससे कि तुलसी का जीवन चरित ठीक ठीक जाना जा सके।

तुलसी चरित और मूल गोसाईं चरित में तुलसी का जन्म संवत १५५४ लिखा हुआ है। 'मूल गोसाईं चरित' में लिखा है :—

पन्द्रह से चौवन विषै, कालिन्दी के तीर।
स्रावन सुक्ला सत्तमी, तुलसी धरेउ सरीर॥

शिवसिंह सरोज में तुलसी का जन्म संवत १५८३ के लगभग माना गया है और पं० रामगुलाम द्विवेदी तुलसी का जन्म संवत १५८९ मानते हैं। डा० ग्रियर्सन, पं० सुधाकर द्विवेदी और पं० रामनरेश त्रिपाठी भी तुलसी का जन्म संवत १५८९ ही मानते हैं। यद्यपि 'भक्त-कल्पद्रुम' में इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण माना गया है परंतु 'तुलसी चरित' और 'मूलगोसाईं चरित में' इन्हें सरयूपारी ब्राह्मण माना गया है तथा पं० रामगुलाम द्विवेदी और डाक्टर ग्रियर्सन ने भी इन्हें सरयूपारी ब्राह्मण माना है। 'तुलसी चरित' में यद्यपि तुलसी के पिता का नाम मुरारि मिश्र लिखा है परंतु परंपरा से प्रसिद्ध आत्माराम दुबे को ही इनका पिता मानना अधिक उचित है। तुलसी की जननी का नाम हुलसी था जो कि रहीम के इस दोहे मे प्रमाणित भी होता है :—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहत अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय॥

तुलसी का जन्म स्थान राजापुर ही माना जाता है परंतु पं० रामनरेश त्रिपाठी तथा अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि तुलसी का जन्म स्थान सोरों या सूकर खेत है। किसी किसी का यह भी मत है कि

तुलसी का जन्म तो सोरों में ही हुआ पर वे बाद में राजापुर आकर रहने लगे।

कहते हैं कि तुलसीदास को शैशवावस्था में ही माता पिता ने त्याग दिया था। बाबा नरहरिदास ने तुलसी को शिक्षा दी। तुलसी ने महात्मा शेष सनातन जी से वेद, दर्शन और इतिहास पुराण का ज्ञान प्राप्त किया। तुलसी का विवाह यमुना पार के एक ग्राम के एक भरद्वाज गोत्री ब्राह्मण की पुत्री से हुआ। तुलसी अपनी पत्नी को अत्याधिक प्रेम करते थे और उसे मायके भी न जाने देते थे। एक बार उनकी पत्नी जब वे घर में नहीं थे, तब वह मायके चली गई। जोरों की वर्षा होने पर भी और नदी में बाढ़ भी होने पर तुलसी नदी पार कर ससुराल पहुँचे। उन्हें इस अवस्था में आया देख उनकी पत्नी ने कहा :—

> लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
> धिकधिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
> अस्थि-चर्म-मय देह मम तामें जैसी प्रीति।
> तैसी जौ श्रीराम महँ होति न तौ भव भीत॥

तुलसी काशी आकर विरक्त हो गए और तीर्थयात्राएँ करने लगे। संवत् १६३१ में उन्होंने रामचरित मानस का लिखना प्रारंभ किया। तुलसी के विषय में बहुत सी कथाएँ प्रचलित हैं जिनमें उनका चमत्कार प्रदर्शन किया गया है। रहीम, नाभाजी, मानसिंह, मधुसूदन सरस्वती आदि इनके मित्र थे। भदैनी के एक जमींदार टोडर भी इनके परम स्नेही थे जिनकी मृत्यु पर तुलसी ने कुछ दोहे लिखे हैं।

तुलसी की मृत्यु के विषय में निम्नांकित दोहा कहा जाता है :—

> संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
> श्रवण शुक्ला सत्यमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

परंतु बाबा वेनी माधवदास की पुस्तक में संवत् तो यही है पर तिथि के स्थान में 'श्रावण कृष्ण तीज शनि' लिखा हुआ है। आचार्य

शुल्क के शब्दानुसार "यही ठीक तिथि है, क्योंकि टोडर के वशज अब तक इसी तिथि को गोस्वामी जी के नाम सीधा दिया करते हैं।"

तुलसीदास के रामचरित मानस, विनय-पत्रिका, कवित्त रामायण (कवितावली), गीतावली, दोहावली, कृष्ण गीतावली, रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकी मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपिनी और रामाज्ञा प्रश्नावली नामक बारह ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनमें प्रथम पाँच तो बड़े हैं और काव्य सौंदर्य की दृष्टि से अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं। शिवसिंह सरोज में राम सतसई, संकट मोचन, हनुमद्बाहुक, रामसलाका, छंदावली, छप्पय रामायण, कड़खा रामायण, रोला रामायण, झूलना रामायण और कुंडलिया रामायण नामक और दस ग्रंथ तुलसीदास के लिखे हुए माने गए हैं। तुलसी के समस्त ग्रंथों में राम चरित मानस का महत्व अत्याधिक है। मानस का महत्व कवित्व और धार्मिक दृष्टिकोण दोनों से हैं। जितना अधिक मानस का प्रचार हुआ उतना अन्य किसी हिंदी ग्रंथ का नहीं। हिंदी के ही नहीं बल्कि विश्व साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'रामचरित-मानस' के प्रति श्री सुमित्रानंदन पंत के विचार देखिए—"और रामचरितमानस ? उस "जायो कुल मंगल" का "रत्नावली" से ज्योतित मानस ? उस :—

"जन्मसिंधु, पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलङ्क।
उन सन समता पाय किमि, चंद्र बापुरो रङ्क।"

"तुलसी शशी" की उज्जवल-ज्योत्सना से परिपूर्ण मानस ? वह हमारी सनातन धर्म-प्राण जातीयता का अविनश्वर सूक्ष्म-शरीर है ? आर्य-सभ्यता का विशाल-आदर्श है; जिसमें उनका सूर्योज्ज्वल मुख-स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। वह तुलसीदास जी के निर्मल-मानस में अनंत का अक्षय-प्रतिबिंब है ! उसकी सौ-सौ तारक चुम्बित सरल-तरलवीचियों के ऊपर जो भक्ति का अमर सहस्र दल विकसित है, वह मर्यादा पुरुषोत्तम की पवित्र-पद-रेणु से परिपूर्ण है। मानस इतिहास में महा-काव्य, महाकाव्य में इतिहास है। उस युग के ईश्वरीय-अनुराग का

नवनीतोज्ज्वल ताज महल है, जिसमें श्री सीताराम की पुण्य-स्मृति चिरंतन-सुप्ति में जाग्रत है।"

अभिव्यंजन शैलियाँ

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन है 'गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिंदी काव्य क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए,' जो कि सत्य भी प्रतीत होता है। तुलसी का आविर्भाव जिस समय हिंदी साहित्य में हुआ उस समय काव्य क्षेत्र में कई शैलियाँ प्रचलित थीं। वीर गाथा कालीन कवियों ने छप्पयों की प्रणाली चलाई और वीर काव्य की रचना की। मैथिल कोकिल विद्यापति ने सुमधुर गीतों की रचना की और एक सर्वथा नूतन शैली को जन्म दिया। विद्यापति हिंदी गीति-काव्य और हिंदी साहित्य में कृष्ण काव्य के जन्मदाता हैं। सूरदास ने भी विद्यापति की इसी गीति-पद्धति को अपनाया। यद्यपि संतों ने पदों की भी रचना की थी पर उपदेश के लिए दोहा छंद ही उन्होंने अपनाया था। कबीर-दास ने अपने नीतिपूर्ण दोहों से काव्याकाश की शोभा-वृद्धि की। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अपभ्रंश कालीन कवियों ने भी इसी दोहा-पद्धति को अपनाया था। प्रेममार्गीयशाखा के अंतर्गत जायसी ने दोहों और चौपाइयों में 'पद्मावत' की रचना कर अवधी का मधुर स्रोत प्रवाहित किया। दोहे चौपाइयों में प्रबंधकाव्य लिखनेवाले प्रथम कवि ईश्वरदास थे जिन्होंने कि 'सत्यवती कथा' नामक काव्य की रचना दोहे चौपाइयों में की। इन चार शैलियों के साथ भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति भी प्रचलित थी। अपने आश्रयदाता का गुण गाने के हेतु भाटों ने कवित्त सवैया नामक छंदों को ही अपनाया था। इस प्रकार तुलसी के समय ये पाँच प्रकार की अभिव्यंजन शैलियाँ हिंदी काव्य क्षेत्र में प्रचलित थीं और तुलसी ने इन पाँचों प्रकार की शैलियों को अपनाया है।

वीरगाथा कालीन कवियों की छप्पय-पद्धति पर तुलसी की रचनाएँ

बहुत कम हैं तब भी ये थोड़ी सी ही रचनाएँ सिद्ध करतीं हैं कि तुलसी को इस क्षेत्र में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। तुलसी का यह निम्नांकित छप्पय देखिए, जिससे पता चलता है कि वीर गाथाकालीन कवियों के सदृश्य छप्पय लिखने में तुलसी भी पूर्ण निपुण थे।

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पव्वै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गंयद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुरबिमान, हिमभानु, भानु संघठित परस्पर॥
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि, जबहिं राम सिवधनु दल्यौ॥

गोस्वामी जी ने हिंदी गीतिकाव्य को भी अलंकृत किया है। इन्होंने विनय पत्रिका, गीतावली और कृष्ण गीतावली में गीत पद्धति को अपनाया है। इन गीति-काव्यों की रचना राग रागनियों के आधार पर पद शैली में हुई है। 'विनयपत्रिका' तुलसी का प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमें विनय और आत्म निवेदन के साथ-साथ समस्त देवी-देवताओं की स्तुति भी की गई। मानस की अव्यक्त भावनाओं को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करने में तुलसी पूर्ण सफल रहे हैं। विश्व के इस माया जाल से ऊब कर वे कहते हैं :—

"केसव कहि न जाइ का कहिए?
देखत तव रचना विचित्र हरि समुझि मनहिं मन रहिये।"

'गीतावली' के सृजन में तुलसी ने सूर का अनुसरण सा किया है। बाललीला का वर्णन तो सूर के पदों से मिलता जुलता सा है और कई पद तो ज्यों के त्यों सागर में मिलते हैं केवल राम और श्याम का अंतर है। उत्तर कांड में तुलसी के राम भी सूर के कृष्ण की भाँति हिंडोला झूलते और होली खेलते दिखाए गए हैं। राम और सीता का नखशिख सौंदर्य-वर्णन भी तुलसी ने किया है। यद्यपि 'गीतावली' में 'मानस' के सदृश्य कथा का पूर्ण निर्वाह नहीं है तदापि कहीं-कहीं

सुंदर-सुंदर गीत अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। तपस्वी राम और लक्ष्मण के रूप पर मुग्ध हो ग्रामवधुएँ कहती हैं :—

मनोहरता के मानो ऐन।
स्यामल गौर किशोर पथिक दोउ, सुमुखि निरखु भरि नैन॥
बीच वधू बिधु वदनि विराजित, उपमा कहुँ कोउ है न।
मानहुँ रति ऋतुनाथ सहित, मुनि बेष बनाए है मैन॥

'कृष्ण गीतावली' पर भी सूरदास के सूर सागर का प्रभाव पड़ा है पर वह गीतावली से अधिक स्वाभाविक, सुमधुर और सरस है। सूरदास के सदृश्य तुलसी ने भी 'कृष्ण गीतावली' में बाल वर्णन, सौंदर्य वर्णन, रास लीला और भ्रमरगीत आदि का मनोहर वर्णन किया है। विरह व्यथित गोपियाँ कृष्ण के वियोग में कहती हैं :—

जब तें ब्रज तजि गए कन्हाई।
तब तें विरह-रवि उदित एक रस सखि बिछुरनि-वृष पाई॥

इस प्रकार तुलसी गीतिकाव्य के सृजन में पूर्ण सफल रहे हैं। कबीर आदि संतों के सदृश्य तुलसी ने भी दोहा-पद्धति को अपनाया है। रामचरित मानस में तो दोहे हैं ही पर दोहावली नामक एक और इनकी कृति है जिनमें दोहों की ही बाहुल्यता है। रामसतसई नामक इनकी एक और पुस्तक है जिसके दोहों में रामभक्ति का उपदेश है। तुलसी की दोहावली के दोहों में भावुकता और कल्पना का सुंदर योग है। मार्मिकता भी दर्शनीय है। देखिए :—

मुख मीठे, मानस मलिन, कोकिल, मोर चकोर।
सुजस धवल, चातक नवल, रह्यो भुवन भरि तोर॥
रीझि आपनी बूझ पर, खीझि विचार-विहीन।
ते उपदेश न मानहीं, मोह-महोदधि मीन॥

जिस प्रकार जायसी ने दोहे चौपाई के क्रम से 'पद्मावत' नामक प्रबंध काव्य की रचना की उसी प्रकार तुलसी ने दोहे चौपाई के क्रम

से 'रामचरित मानस' नामक प्रबंध काव्य की रचना की है जो आज भी भारत के ही नहीं विश्व के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में गिना जाता है। तुलसी ने भाटों की कवित्त सवैया पद्धति को भी अपनाया है और 'कवितावली' जैसे सुंदर ग्रंथ की रचना की है। कवितावली भी तुलसी के श्रेष्ठ ग्रंथों में गिनी जाती है। सवैया और घनाक्षरी छंद लिखने में उन्हें अप्रतिम सफलता मिली है। रहीम की बरवैवाली शैली को भी तुलसी ने अपनाया है और अपनी 'बरवै रामायण' की रचना बरवै छंदों में की। इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी ने हिंदी काव्य क्षेत्र में प्रचलित सब प्रकार की रचना शैलियों को अपनाया है और वास्तव में 'हरिऔध' जी ने उचित ही लिखा है :—

"कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।"

भाषा

गोस्वामी तुलसीदास जी के समय में काव्य-भाषा के ब्रज और अवधी नामक दो रूप प्रचलित थे। वीरगाथा काल के कवियों की रचनाओं में भी ब्रजभाषा की झलक देख पड़ती है। चंद बरदाई की भाषा पर विचार करते समय हमने लिखा है कि चंद बरदाई की भाषा पर ब्रजभाषा का यथेष्ठ प्रभाव पड़ा है; यद्यपि ब्रजभाषा उस समय उतनी परिपक्व न हो सकी थी। नाथपंथियों ने जिस सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग किया है उसमें भी राजस्थानी और पंजाबी के साथ-साथ ब्रजभाषा भी झलक उठती है। कबीर के पदों की भाषा ब्रजभाषा ही है तथा सूर ने भी इसी ब्रज की चलती भाषा को साहित्यिक बाना पहनाकर काव्य भाषा के सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया। यद्यपि सूर की ब्रजभाषा में भी क्रियाओं के कुछ पुराने रूप और प्राकृत के शब्द दृष्टिगोचर होते हैं पर सूर ब्रजभाषा को सार्वदेशिक भाषा बनाने में पूर्ण सफल रहे हैं। इधर ब्रजभाषा के इस मधुर स्रोत के साथ-साथ अवधी का स्रोत भी प्रवाहित हो रहा था। प्रेम मार्गी शाखा के कवियों

ने अपनी प्रेम गाथाएँ अवधी में ही लिखी हैं। 'पद्मावत' की भाषा ठेठ अवधी ही है। जिस प्रकार तुलसी ने सब प्रकार की रचना शैलियों को अपनाया है उसी प्रकार इन दोनों भाषाओं को भी अपनाया है। संस्कृत का अत्याधिक ज्ञान होते हुए भी देश भाषा को अपनाना भी सराहनीय ही कहा जावेगा। उस समय प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वान देशभाषा में रचे हुए काव्य को हीन दृष्टि से देखते थे परंतु तुलसी ने देश भाषा में ही काव्य रचना की जिसके लिए उनका उपहास भी किया गया। तुलसी ने स्वयं लिखा है :—

भाषा भनिति मोर मति थोरी।
हँसिबे-जोग हँसे नहिं खोरी॥

तुलसी ने कवितावली, गीतावली, कृष्ण गीतावली और विनय-पत्रिका की रचना ब्रजभाषा में की तथा रामचरित मानस, बरवै रामायण, पार्वती-मंगल, जानकी मंगल और रामलला नहछू की रचना अवधी में की। ठेठ अवधी का जो माधुर्य जायसी के पद्मावत में है वही रामलला नहछू, बरवै रामायण, जानकी मंगल और पार्वती मंगल में भी है। यद्यपि पद्मावत और रामचरित मानस दोनों ही अवधी में लिखे गए हैं परंतु दोनों की भाषा में कुछ अंतर भी है। जायसी की अवधी ठेठ अवधी है जब कि तुलसी की अवधी संस्कृत-मिश्रित साहित्यिक अवधी है। जायसी की भाषा पर विचार करते समय हमने उदाहरण देते हुए जायसी और तुलसी की अवधी में क्या अंतर है— इस पर प्रकाश डाला है। तुलसी की भाषा में जगह-जगह संस्कृत की कोमलकांत पदावली का अनुसरण हुआ है। यद्यपि तुलसी के पूर्व ही अवधी में प्रेम गाथाएँ लिखी जा चुकी थीं परंतु इसका श्रेय तुलसी को ही है जो उन्होंने इसे साहित्यिक साँचे में ढाल काव्य भाषा के उपयुक्त बना दिया। और इस प्रकार अवधी में 'मानस' की रचना कर अवधी को सर्वदा के लिए अमर कर दिया।

तुलसी ने ब्रजभाषा को भी साहित्यिक साँचे में ढालने का प्रयत्न

किया है और इस प्रकार उन्होंने ब्रजभाषा का केवल ढाँचा भर ग्रहण किया, मुहावरों और अन्य देशों के शब्दों का योग कर ब्रजभाषा को सामान्य काव्य-भाषा बना दिया। भाषा में स्वाभाविकता इतनी अधिक है कि यह प्रतीत ही नहीं होता है कि इसमें अन्य देशी और विदेशी भाषाओं के भी शब्द हैं। तुलसी ने प्रचलित और अप्रचलित कई शब्दों को ब्रज का बाना पहिना दिया है। संस्कृत के भी कुछ, अप्रचलित शब्द और प्राकृत के भी कुछ शब्द तुलसी की रचना में दृष्टिगोचर होते हैं। परंतु इतने पर भी दुरूहता कहीं नहीं आ सकी है।

तुलसी की भाषा की प्रमुख विशेषता यह है कि तुलसी ने सर्वथा भावानुकूल भाषा ही लिखी है। जो तुलसीदास इस प्रकार की कोमल-कांत पदावली का व्यवहार करते हैं:—

वर दंत की पंगति कुंदकली,
अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच, जगै,
छवि मोतिन माल अमोलन की॥
घुंघरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर,
कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै तुलसी,
बलि जाऊँ लला इन बोलन की॥

वे ही वीर या भयानक रस का वर्णन करते समय इस प्रकार की शब्द योजना करते हैं:—

मत्त-भट-मुकुट-दसकंध-साहस-सइल,
सृंग-बिद्दरनि जनु बज्र-टाँकी।
दसन धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठ,
सेष संकुचित, संकित पिनाकी॥

चलित महि मेरु, उच्छलित सायर सकल,
विकल विधि वधिर दिसि विदिसि झाँकी
रजनिचर-घरनि-घर गर्भ-अर्भक स्रवत,
सुनत हनुमान की हाँक बाँकी ॥

तुलसी की रचनाओं में उत्तम भाषा के तीनों प्रधान गुणों की अधिकता है। वीर, रौद्र, वीभत्स एवं भयानक रस की अभिव्यंजना में ओजगुण और शृंगार, करुण, शांत तथा हास्य रस की व्यंजना में माधुर्य गुण आवश्यकीय हैं। तुलसी की भाषा में आवश्यकतानुसार ये दोनों गुण दृष्टिगोचर होते हैं। प्रसाद गुण की तो प्रायः बाहुल्यता सी है। इस प्रकार उत्तम भाषा के तीनों प्रधान गुण तुलसी की भाषा में दृष्टि-गोचर होते हैं।

तुलसी की भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों की भी प्रचुरता है। कहीं-कहीं प्रांतीय मुहाविरे भी हैं अन्यथा सर्वत्र सार्वदेशिक मुहावरों का ही प्रयोग हुआ है। मुहावरों, लोकोक्तियों और कहावतों के प्रयोग में तुलसी को अद्वितीय सफलता मिली है। तुलसी शब्द योजना के सहारे कहीं-कहीं बड़ा सुंदर चित्र सा खींच देते थे। चित्रकूट में राम के सामने जाते समय भरत की दशा का कितना सुंदर चित्र तुलसी ने यहाँ प्रस्तुत किया है :—

विलोके दूर तें दोउ वीर।
मन अगइहूँ, तन पुलक सिथिल भयो, नयन-नलिन भरे नीर।
गड़त गोड़ मनो सकुच पंक महँ, कढ़त प्रेमबल धीर ॥

संस्कृति की कोमलकांत पदावली का प्रयोग करने से भाषा में साहित्यिकता और मधुरिमा का प्रादुर्भाव हुआ है। विनय पत्रिका की भाषा संस्कृत गर्भित अवश्य है परंतु केशवदास की भाँति तुलसी ने अप्रयुक्त संस्कृत शब्दों को ठूँसने का प्रयास नहीं किया। तुलसी अलंकार व्यंजना में भी पूर्ण सफल रहे हैं और प्रायः सभी प्रकार के अलंकार उदाहरण उनकी रचनाओं में मिलते हैं।

यह तो हम प्रारंभ में ही लिख चुके हैं कि तुलसी की भाषा में भिन्न-भिन्न भाषा के शब्द भी मिलते हैं। अरबी के गरीब, गनी, साहिब, हलक, कहरी, गुलाम, हराम, किसब, हबूथ, नक़ीरि और फारसी के कागर, दगाबाज, दराज, नेवाज, सालिम, कागद, जहानों, असवार, बकसीस, सहिदानी, कोतल, सहम जैसे बहुत से शब्द तुलसी की कृतियों में मिलते हैं। इनके साथ-साथ बँगला के खटना, वैसा, गुजराती के माँगी लाधे तथा भोजपुरी के दिहल, रौरे और राउर जैसे शब्द भी तुलसी की रचनाओं में दृष्टिगोचर होते हैं। बुंदेलखण्डी शब्द और मुहावरे दोनों ही तुलसी की क्रितियों में देख पड़ते हैं। तुलसी आवश्यकतानुसार नई क्रियाएँ बनाने में भी निपुण थे। श्रीरामनरेश त्रिपाठी के शब्दानुसार "भाषा की दृष्टि से तुलसीदास परम स्वतंत्र कवि थे। जहाँ उन्होंने जैसी आवश्यकता देखी; वहाँ वैसी क्रिया ढाल दी।" तुलसी ने तुकांत के लिए प्रायः शब्दों को बहुत कम विकृत्त किया है। यदि कहीं शब्द तोड़े-मरोड़े भी गए हैं तो भी उनका स्वरूप विकृत न हो सका। तुलसी ने नए शब्द भी गढ़े हैं पर उनसे दुरूहता कहीं नहीं आई। इस प्रकार तुलसी की भाषा में गुणों की बाहुल्यता सी है। सर्वत्र ही सुमधुर, सरस, संगीतमय, सुकोमल, सजीव और सबल शब्दावली ही तुलसी की रचनाओं में दृष्टिगोचर होती हैं। भाषा की दृष्टि से तुलसी की यह महान विशेषता है कि वे अवधी और ब्रज दोनों में समान निपुणता से रचना कर सके। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि न तो सूरदास का ही अवधी पर कुछ अधिकार था और न तो जायसी का ब्रज भाषा पर।

काव्य सौंदर्य

किसी भी कवि की काव्य कला की समीक्षा करते समय यह अवश्य देखना चाहिए कि वह बहिर्जगत और अंतर्जगत के चित्रण में कितना अधिक सफल रहा है अर्थात् बाह्यजगत और आभ्यंतरिक जगत में

पैठकर उत्तम-उत्तम भावों का संचय कर उन्हें वह कुशलता से अपनी लेखनी द्वारा व्यक्त कर सका है या नहीं। कवि को बाह्यजगत के चित्रण में यदि सफलता मिल गई तो अंतर्जगत का भी चित्रण वह कुशलता से कर सकेगा। वास्तव में कवि के बाह्यजगत का अनुभूत ज्ञान ही उसके अंतर्जगत का मूल आधार है। कालिदास और शेक्सपियर दोनों विश्वकवियों की रचनाओं का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि जहाँ कालिदास बाह्यजगत के चित्रण में अधिकाधिक सफल रहे हैं वहाँ शेक्सपियर एकमात्र अंतर्जगत का ही चित्रण कर सके हैं। इस प्रकार से दोनों का क्षेत्र एकांगी ही रहा है परंतु तुलसी को दोनों क्षेत्रों में समान रूप से सफलता मिली है। बाह्यजगत के साथ-साथ अंतर्जगत का भी चित्रण वे कुशलता से कर सके हैं। ऐसा कोई भी विषय अवशेष न रहा जिसका वर्णन उन्होंने न किया हो। तुलसी की इस वर्णनशैली की प्रशंसा करते हुए श्रीरामनरेश त्रिपाठी ने उचित ही लिखा है—"तुलसीदास में वर्णन शक्ति अद्भुत थी। बाह्यजगत का सूक्ष्म निरीक्षण किये बिना कवि में ऐसी वर्णन-शक्ति का विकास नहीं हो सकता। तुलसीदास ने जिस विषय को हाथ में लिया उसका उन्होंने एक जीता-जागता चित्र सा खींचकर खड़ा कर दिया है। इससे उनकी सुरुचि और प्रत्येक विषय को सांगोपांग देखने और उसमें निहित सौंदर्य को हृदयगंम करने की अद्भुत पिपासा का प्रमाण मिलता है।"

गोस्वामी तुलसीदास एक भक्त अवश्य थे परंतु साथ ही कवि भी थे। यद्यपि 'कवि न होउँ नहिं चतुर प्रवीना' कहकर अपनी दीनता प्रदर्शित करते हुए वे न तो अपने को कवि ही मानते हैं और न काव्य ज्ञान में चतुर। परंतु इस पंक्ति द्वारा यह भी ज्ञात होता है कि उनका लक्ष्य कविता करना नहीं था और साथ ही उनमें यशोलिप्सा भी न थी। सच्चे कवि वे ही कहे जा सकते हैं, जिनकी कविता का महत्त्व उनके निधन के उपरांत भी दिन दूना रात चौगुना बढ़ता ही रहे। तुलसी की 'स्वतः सुखाय' रचनाओं ने तुलसी को तो सुख प्रदान किया ही पर तब से लेकर आज

तक वे दूसरों को भी सुख प्रदान करती रही हैं। तुलसी की सूक्तियों में आध्यात्मिकता, शीलता, कलात्मकता आदि की मनोहर झाँकी दृष्टिगोचर होती है। उनके प्रकृति वर्णन में कलात्मकता तो है ही पर गूढ़ उपदेश भी भरे पड़े हैं। वर्षा-वर्णन की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

दामिनी दमक रही घन माहीं। खल कै प्रीति यथा थिर नाहीं॥
बरषहिं जलद भूमि निअराएँ। जथा नवहिं बुध विद्या पाए॥
बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के वचन संत सह जैसे॥
छुद्र नदी भरि चलि उतराई। जस थोरहुँ धन खल बौराई॥
सिमिटि-सिमिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सद्‌गुन सज्जन पहिंआवा
दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई। बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई॥
लछिमन देखहुँ मोरगन, नाचत वारिद पेखि।
गृही विरति रत हरप जस, विष्णु भगत कहुँ देखि॥

महर्षि व्यास ने भी बड़ा ही सुंदर पावस वर्णन किया। उनके वर्षा वर्णन का कुछ अंश हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं जिनकी छाया तुलसी के वर्षा वर्णन में दृष्टिगोचर होती है। देखिए :—

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा नियमात्यये॥

आसन्नुत्पथ वाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः।
पुंसो यथाऽस्वतन्त्रस्य देह द्रविण सम्पदः॥

गिरयो वर्ष धाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।
अभिभूयमाना व्यसनैर्य थाधोक्षजचेतसः॥

मेघगमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दाञ्छिखारीडनाः।
गृहेषु तप्ता निर्विराणा यथाऽच्युत जनागमे॥

—श्री मद्भागवत-स्कंध १०-पूर्वार्द्ध अध्याय २०

अब तुलसी के शरद वर्णन की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

उदित अगस्त पंथ जल सोषा । जिमि लोभहिं सोषइ संतोषा ॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा । संत हृदय जस गत मद मोहा ॥
रस रस सूख सरित सर पानी । ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी ॥
जानि सरद ऋतु खंजन आए । पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए ॥
पंक न रेनु सोइ असि धरनी । नीति निपुन नृप कै जस करनी ॥
जल सँकोच बिकल भइ मीना । अबुध कुटुंबी जिमि धन हीना ॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा । हरिजन इव परिहरि सब आसा ॥
कहुँ कहुँ वृष्टि सारदी थोरी । कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी ॥

चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि ।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि ॥

इसके साथ-साथ महर्षि व्यास की उन पंक्तियों को भी देखिए जिनका प्रभाव तुलसी के शरद् वर्णन पर पड़ा है :—

गाधवारि चरास्ताप मविन्दञ्शरद कर्दम ।
यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥
सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः ।
यथा त्यक्तैषणः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिष ॥
गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम् ।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा ॥
वाणोऽमुनिनृप स्नाना निर्गम्यर्थान् प्रपेदिरे ।
वर्ष रुद्धायथा सिद्धाः स्वपिराडान् काल आगते ॥

—श्री मद्भागवत, स्कंध १० पूर्वार्द्ध अध्याय २०

यद्यपि तुलसी के ऋतुवर्णन में कहीं-कहीं श्री मद्भागवत के ऋतु र्णन की छाया अवश्य पड़ी है पर तो भी उसमें मौलिकता धमान है। तुलसी प्रकृति सौन्दर्य का वर्णन करने में भी पूर्ण ल रहे हैं।

साहित्य दर्पणकार ने महाकाव्य के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि :—

संध्या सूर्येन्दु रजनी प्रदोष ध्वान्त वासराः।
प्रातर्मध्यान्हमृगया शैलर्तु वन सागराः॥
संभोग विप्रलम्भौच मुनिस्वर्गपुराध्वराः।
रणा प्रयाणों पयम मन्त्र पुत्रोदयादयः॥
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह॥

अर्थात् महाकाव्य में संध्या सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, 'दिन, अंधकार, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मंत्र आदि का यथानुसार वर्णन होना आवश्यकीय है। रामचरितमानस में इन समस्त विषयों का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। तुलसी ने प्रसंगानुसार इन सभी विषयों का मनोहर वर्णन किया है।

कल्पना और भावुकता का सुंदर संयोग तुलसी की कृतियों में है। कहीं-कहीं तो सर्वथा नूतन भावों की ही अभिव्यंजना की गई है। पम्पा सरोवर में अपनी प्यास शान्त करने के लिए आए हुए मृगों के झुण्ड को देखकर तुलसी को उदार गृहस्थ के द्वार पर एकत्रित याचकों के समूह का ध्यान होता है :—

जहँ तहँ पिअहिं बिबिध मृगनीरा।
जनु उदार गृह जाचक भीरा॥

तुलसी ने रूप वर्णन भी बड़ा ही कलापूर्ण किया है। परन्तु सीता का रूप वर्णन करते समय वे संयत ही रहे, मर्यादा से बाहर कहीं नहीं गए। देखिए :—

जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय सम तूल॥

रूपक और व्यतिरेक अलंकारों से युक्त इन पंक्तियों में सीता के सौंदर्य का मनोहर वर्णन किया गया है। तुलसी की काव्य कला कुशलता का यह एक अत्युत्तम उदाहरण है। सीता के वियोग में विलाप करते समय रामचंद्रजी कहते हैं :—

९ खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना॥
कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी॥
वरुन पास मनोज धनु हँसा। गज केहरि निज सुनत प्रशंसा॥
श्री फल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥

सीता के इस सौंदर्य वर्णन में कवि, कवि-परम्परा का ही अनुगामी रहा है। चंदबरदाई, विद्यापति, जायसी और सूरदास के रूप वर्णनों के उदाहरण हम प्रारंभ में ही प्रस्तुत कर चुके हैं। अब तुलसी के परवर्ती कवि दास जी का रूप वर्णन देखिए, जिसमें कवि परिपाटी का ही अनुसरण किया गया है।

आनन है अरविंद न फूले,
अलीगन ! भूले कहाँ मँडरात हौ ?
कीर कहा तोहिं बाइ भई भ्रम,
बिंब के ओंठन को ललचात हौ ?
दासजू ब्याल न, बेनी रची,
तुम पापी कलापी कहाँ इतरात हौ ?
बोलति बाल न बाजति बीन,
कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ ?

दासजी के रूप वर्णन में तुलसी की सी सरसता और कलात्मकता नहीं है। शेक्सपियर की जूलियट का सौंदर्य वर्णन देखिए :—

Oh, she doth teach the torches to burn bright;
Her beauty hangs upon the cheek of night;
Like a rich jewel in an Ethiop's ear;
Beauty too rich for use, for earth to dear;

So shows a showy dove trooping with crows;
As yonder lady, over her fellows shows.

इसी प्रकार कालीदास ने भी यक्षवनिता का रूप इन पंक्तियों में कलापूर्ण ढंग से व्यक्त किया है। देखिए—

श्यामा स्वगं चकित हरिणी प्रेक्षणे दृष्टिपातं,
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासा—
न्हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति॥

बाह्य जगत पर तुलसी का पूर्ण आधिपत्य था। भावव्यंजना भी उनकी अनुपम थी। विभाव चित्रण भी कलापूर्ण था। उनकी भाव मूर्ति विधायनी कला का एक उदाहरण देखिए—

जटा मुकुट सिर सारस नयननि भौंहें तकत सुभौंह सकोरे।

और भी—

सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।
धावनि नवनि बिलोकनि बिथकनि बसै तुलसी उर आछे॥

मृग के पीछे दौड़नेवाले राम की सुंदर मूर्ति यहाँ चित्रित की गई है। किसी भी कवि की भावुकता का परिचय इस बात से लग सकता है कि वह अपने काव्य में कितने अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को प्रस्तुत कर सका है। प्रबन्धकाव्य वही सफल हो सकता है जिसमें हृदयस्पर्शी वर्णनों की बाहुल्यता हो। तुलसी को इस दिशा में भी अद्वितीय सफलता मिली है। उनकी कृतियों में सर्वत्र ही हृदयस्पर्शी वर्णन देख पड़ते हैं। 'मानस' में राम-वन-गमन, राम और भरत की भेंट, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम-विलाप, आदि कई हृदयस्पर्शी वर्णन हैं। तुलसी पूर्णतः भावुक थे और उनकी भावुकता उनके काव्य में सर्वत्र ही झलक उठती है। एक चित्र देखिए—

राम-वासथल बिटप बिलोके। उर अनुराग रहत नहिं रोके॥

राम को अयोध्या लौटा लाने के लिए भरत नंगे पाँव दौड़े चले

जा रहे हैं। मार्ग में जहाँ कहीं उन्हें विदित होता है कि राम ने इस स्थल पर ठहरकर विश्राम किया था, भरत उस स्थल को देखते ही प्रेम से गद्‌गद हो नैनों से नीर प्रवाहित करने लग जाते हैं। प्रकृति भी उनकी सहायता करने में तत्पर हो गई है और उनके मार्ग को सुगम बनाना चाहा है:—

*किएँ जाहि छाया जलद, सुखद बहइ बर बात।

(दाम्पत्य प्रेम का चित्र भी तुलसी ने प्रस्तुत किया है। रीति-कालीन कवियों की भाँति उच्छृंखलता उन्होंने प्रदर्शित नहीं की बल्कि शृंगार को शिष्ट रूप में प्रस्तुत कर शृंगार रस को भी पुनीत कर दिया है। राम और सीता वन में से जा रहे हैं। मार्ग में ग्राम-वनिताओं ने सीता से पूछा कि ये साँवरे से तुम्हारे कौन हैं? भारतीय नारी अपने पति का नाम नहीं लेती; सीता ने भी किस चतुरता के साथ ग्राम वनिताओं के प्रश्न का उत्तर दिया:—

कोटि मनोज लजावन हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी॥
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सँकोच सकुचति बर-बरनी।
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लषन लघु देवर मोरे।
बहुरि बदन-बिधु अँचल ढाँकी। पिय तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि।

तुलसी की रचनाओं में शृंगार रस कई स्थलों पर पाया जाता है परन्तु कामुकता या अश्लीलता का नग्न चित्रण कहीं भी नहीं है। शृंगार रस का एक उदाहरण और देखिए:—

करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरंद छबि, करइ मधुप इव पान॥
देखन मिस मृग विहग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि, बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

वासना विहीन शुद्ध दाम्पत्य प्रेम के शृंगार रस पूर्ण परम पुनीत चित्र तुलसी ही प्रस्तुत कर सके हैं। विप्रलंभ शृंगार की अभिव्यंजना करने में भी तुलसी सफल रहे हैं। करुणा रस पूर्ण हृदयग्राही उदाहरण "राम वन गमन' के समय उपलब्ध होते हैं। राम के वन जाने से मनुष्यों को तो दुःख हुआ ही, पशु तक दुखी हो उठे। जिस रथ पर राम को सुमंत्र कुछ दूर तक पहुँचा आए थे, लौटते समय उसी रथ के घोड़े शोकाकुल होकर इस प्रकार अपना शोक प्रकट करते हैं :—

देख दखिन दिशि हय हिहिनाहीं, जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं।
नहिं तृन चरहिं न पिहहिं जल, मोचहिं लोचन वारि।

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम भी बड़ा ही करुणापूर्ण विलाप करते हैं। इस विलाप में दुःख की अभिव्यक्ति स्वाभाविक रूप से की गई है। राम उस समय भाई के वियोग में यहाँ तक कह देते हैं :—

जौ जनतेऊ बन बंधु-बिछोहू। पिता-बचन मनतेऊँ नहिं ओहू॥

तुलसी ने हास्य रस की भी सुंदर व्यंजना की है। कहीं-कहीं शिष्ट हास्य-स्मित हास्य के उदाहरण भी देख पड़ते हैं। हास्य रस का एक सुंदर उदाहरण देखिए :—

विंध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी,
महा, बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी, तुलसी सो कथा,
सुनि भे मुनि बृंद सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चंद मुखी,
परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू,
करुना करि कानन को पगुधारे॥

जनक के 'बीर बिहीन मही मैं जानी' कहने पर लक्ष्मण की आकृति में जो रौद्रता आई वह तुलसी के शब्दों में देखिए :—

माखे लखन कुटिल भइँ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥
रघुबंसनि महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥

तुलसी ने वीभत्स रस की भी कलापूर्ण व्यंजना की है। वीभत्स रस का उदाहरण पढ़ते ही प्रायः जुगुप्सा सी होती है पर तुलसी ने यहाँ वीभत्स रस का नूतन रूप प्रस्तुत किया है।

राम सरासन तें चले तीर,
रहे न सरीर, हड़ावरि फूटी।
रावन धीर न पीर गनी,
लखि लैकर खप्पर जोगिनि जूटी॥
सोनित – छींट – छटानि – जटे,
तुलसी प्रभु सोहैं महाछवि छूटी।
मानो मरकत – सैल – विसाल – मैं,
फैलि चलीं बर बीर बहूटी॥

रक्तबिंदुओं से लथपथ राम का शरीर देख कर स्वाभाविक ही मुँह फेर लेने की इच्छा होती पर कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति तो देखिए कि यहाँ भी उसने अप्रस्तुत विधान की सहायता से वीभत्स में भी सौंदर्य दिखला दिया है। साथ ही अप्रस्तुत विधान होने पर भी रस विरोध यहाँ होने नहीं पाया है। वीभत्स को छुपाकर सौंदर्य की अभिव्यक्ति की गई है। 'रामचरित मानस' में भी तुलसी ने इसी प्रकार अप्रस्तुत विधान की सहायता से माधुर्य लाया है। देखिए :—

७. भुज-दंड सर-कोदंड फेरत रुधिर-कन तन अति बने।
जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने॥

कालिदास ने भी रूपक की सहायता से ताड़का-वध में सौंदर्य लाना चाहा है पर रस विरोध होने से उसमें वह कलात्मकता दृष्टिगोचर नहीं होती जैसी तुलसी की उक्ति में देख पड़ती है:—

राम मन्मथ शरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिर चन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा॥

तुलसी सर्वत्र ही हृदय के विविध भावों की व्यंजना कुशलता से कर सके हैं। कौशल्या के सामने भरत अपने हृदय की आत्मग्लानि इन शब्दों में प्रगट करते हैं:—

> ७. जौ हौं मातुमते महँ ह्वै हौं।
> तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं।
> क्यों हौं आज होत शुचि सपथनि, कौन मानिहै साँचो ?
> महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच बिसिषन्ह बाँची ?

८—तुलसी चरित्र चित्रण में भी पूर्ण सफल रहे हैं। जीवन की समस्त परिस्थितियों का स्वाभाविक चित्रण ही उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। तुलसी की प्रबंध पटुता, रस व्यंजना, अलंकार व्यंजना, तल्लीनता, भाषाभिव्यक्ति, वर्णनशैली और मनोहर भावव्यंजना आदि सभी सराहनीय हैं। तुलसी रस व्यंजना के हेतु विभाव, अनुभाव, आलंबन, उद्दीपन आदि जुटाने नहीं बैठे थे वरन् स्वाभाविक ही उनकी रचनाओं में रसपयोधि उमड़ उठा है। तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। साधारण से साधारण भावों को भी उन्होंने जगमगा दिया है। तुलसी की काव्यकला की प्रशंसा पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्तकंठ से की है। इस प्रकार हिंदी काव्य साहित्य में ही नहीं वरन् विश्व साहित्य में तुलसी का आदरणीय स्थान है।

केशवदास

परिचय

केशवदास ने 'कविप्रिया' के द्वितीय प्रभाव में अपने कुल का वर्णन स्वयं ही किया है। केशव के पिता का नाम श्रीकाशीनाथ मिश्र और पितामह का श्रीकृष्णदत्त मिश्र था। केशव के पूर्वज संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। केशव के बड़े भाई श्रीबलभद्र मिश्र भाषा के भी अच्छे कवि थे। इस प्रकार केशवदास को साहित्य और शास्त्रों का ज्ञान होना स्वाभाविक ही है। केशव सनाढ्य ब्राह्मण थे।

केशव के जन्म संवत का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। मिश्रबंधु इनका जन्म संवत १६०८ वि० और आचार्य शुक्ल ने १६१२ वि० के लगभग माना है। केशव का निधन संवत भी अनुमान से १६७४ वि० के लगभग माना जाता है।

केशव ओड़छा नरेश महाराज रामसिंह के छोटे भाई इंद्रजीतसिंह की सभा में रहते थे। इंद्रजीतसिंह केशव का बहुत अधिक सम्मान करते थे और उन्होंने इक्कीस ग्राम केशव को दान में दिए थे। इंद्रजीत इनको गुरु के सदृश्य मानते थे और इंद्रजीत के ही कारण रामसिंह भी केशव को मित्र तथा मंत्री के सदृश्य मानते थे। केशव ने इंद्रजीतसिंह की बड़ी प्रशंसा की है और लिखा है—

गुरु करि मान्यो इंद्रजीत, तन मन कृपा विचारि।
ग्राम दये इकबीस तब, ताके पायँ पखारि॥
इंद्रजीत के हेत पुनि, राजा राम सुजान।
मान्यो मंत्री मित्र कै, केसवदास प्रमान॥

केशव ने ओड़छा तथा उसके समीप की बेतवा नदी का बड़ा ही

मनोहर वर्णन किया है। बीरबल से भी केशव का परिचय था। बीरबल की प्रशंसा में केशव ने एक छंद पढ़ा जिस पर प्रसन्न होकर बीरबल ने छः लाख रुपये की हुँडियाँ जो उनकी जेब में थी निकालकर तुरंत ही केशवदास को दे दी। बीरबल ने इनसे प्रसन्न होकर कुछ माँगने को कहा तब इन्होंने कहा—

यों ही कह्यो जु बीरबल माँगु जु माँगन होय।
माँग्यो तुव दरबार में मोहिं न रोकै कोय॥

केशव ने 'कविप्रिया' में अमरसिंह के दान का भी वर्णन किया है। इससे प्रतीत होता है कि केशवदास अमरसिंह के यहाँ भी गए थे। यह कौन से अमरसिंह हैं, इसका कुछ ठीक-ठीक पता नहीं चलता। महाराणा प्रताप के पुत्र का भी नाम अमरसिंह था अतएव हो सकता है कि इसी अमरसिंह के यहाँ केशव गए हों। इंद्रजीत की सभा में केशव बड़े सम्मान के साथ रहते थे और उनके दिन बड़े सुख से व्यतीत हो रहे थे, जैसा कि केशव ने लिखा भी है:—

भूतल को इंद्र इंद्रजीत जीवै जुग-जुग,
जाके राज केसौदास राज सो करत है।

स्वयं इंद्रजीत भी काव्य, साहित्य, नृत्य और गीत का अत्यंत प्रेमी था। इंद्रजीत के यहाँ बहुत सी वेश्याएँ थीं, जिनमें रायप्रवीन, नवरँगराय, विचित्रनयना, तानतरंग, रंगराइ और रंगमूरति नामक छः वेश्याएँ अति प्रसिद्ध थीं। ये गीत, नृत्य और काव्य आदि कलाओं में निपुण थीं। रायप्रवीन इंद्रजीत की प्रेमिका थी और गणिका होते हुए भी पतिव्रता थी। रायप्रवीन की समता केशव ने लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती तक से की है:—

रतनाकर-पालित सदा, परमानंदहि लीन।
अमल कमल कमनीय कर, रमा कि रायप्रबीन॥
रायप्रबीन की सारदा, सुचि रुचि रंजित अंग।
बीना-पुस्तक-धारिनी, राजहंस-सुत संग॥

वृषभ वाहिनी अंग उर वासुकि लसत प्रवीन।
सिव संग सोहति सर्वदा, सिवा कि राय-प्रवीन॥

रायप्रवीन काव्य और साहित्य की भी प्रेमी थी तथा स्वयं कविता भी करती थी :—

नाचत, गावत, पढ़त सब सबै बजावत बीन।
तिनमें करति कवित्त यक रायप्रवीन प्रवीन॥

इसी रायप्रवीन के पढ़ने के हेतु केशवदास ने कविप्रिया की रचना की :—

सविता जू कविता दई, ता कहँ परम प्रकास।
ताके कारन कवि प्रिया कीन्हीं केशवदास॥

केशव के जीवन की अन्य घटनाओं के विषय में अभी तक कुछ भी पता नहीं चला है। किंवदंतियाँ अवश्य कुछ प्रचलित हैं परंतु उनमें सत्यता कितनी है यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। प्रेतयश के फलस्वरूप केशव प्रेतयोनि को प्राप्त हुए थे और रामचंद्रिका के इक्कीस पाठ कर वे उस योनि से मुक्त हो सके थे; इस प्रकार की एक कहानी भी प्रचलित है। केशव के विवाह और संतति के विषय में भी कुछ पता नहीं चलता। बाबू राधाकृष्णदास ने रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि बिहारी को केशव का पुत्र माना है परंतु ठोस प्रमाणों के अभाव में यह न सिद्ध हो सका कि केशव बिहारी के पिता थे।

केशव का वृद्धावस्था में निधन हुआ था क्योंकि उन्होंने अपने काव्य में कई स्थलों पर वृद्धावस्था का बड़ा सुंदर वर्णन किया है। वृद्धावस्था में भी इनके मानस में रसिकता विद्यमान थी। एक दिन ये किसी कुएँ के पास बैठे थे वहाँ स्त्रियों ने इन्हें बाबा कहकर संबोधित किया तब इन्होंने यह दोहा कहा :—

केशव केसनि असि करी, बैरीहु जस न कराहिं।
चंद्रवदनि मृगलोचनी बाबा कहि-कहि जाहिं॥

केशव के लिखे हुए रामचंद्रिका, रसिक प्रिया, कवि प्रिया, विज्ञान गीता, रतन बावनी, बीरसिंह देव चरित और जहाँगीर-जस-चंद्रिका नामक सात ग्रंथ मिलते हैं जिनमें प्रथम चार अधिक महत्व के हैं। लाला भगवानदीन इन सात कृतियों के अतिरिक्त छंद शास्त्र का कोई एक ग्रंथ, रामअलंकृत मंजरी और नखशिख नामक तीन ग्रंथ केशव रचित बतलाते हैं पर अभी तक इन पुस्तकों के उपलब्ध न होने से कुछ ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता।

भाषा

केशव की काव्यभाषा ब्रजभाषा ही थी। यद्यपि साहित्य क्षेत्र में ब्रज और अवधी नामक दो भाषाएँ प्रचलित थीं पर ब्रजभाषा का प्रचार अधिक था। सूर ने ब्रजभाषा को सर्वमान्य साहित्यिक भाषा बना दिया था और इस प्रकार आगे चलकर ब्रजभाषा दिनोदिन उत्तरोत्तर विकसित होती रही। यहाँ तक कि आधुनिक काल में भी ब्रजभाषा का स्रोत प्रवाहित होता रहा।

केशव को संस्कृति का अच्छा ज्ञान था। केशव के पूर्वज संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। संस्कृत के विद्वान होकर भी संस्कृत में काव्य रचना कर 'भाषा' में काव्य रचना करने से केशव को कुछ ग्लानि सी हुई थी। अपने इसी क्षोभ को केशव ने इन पंक्तियों में व्यक्त किया है:—

उपज्यो तेहि कुल मंदमति सठ कबि केसवदास।
रामचंद्र की चंद्रिका भाषा करी प्रकास॥
भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा-कवि भो मंदमति तेहि कुल केसवदास॥

संस्कृत के प्रकांड पंडित होने से केशव के काव्य में कहीं कहीं दुरूह शब्दों की अधिकता सी है। कहीं कहीं तो भाषा संस्कृत शब्दों के बोझ से दबी सी प्रतीत होती हैं। तुलसी भी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे और

संस्कृत शब्दावली की सहायता से तुलसी ने भाषा को साहित्यिक स्वरूप देने का प्रयत्न किया है परंतु केशवदास ने कहीं कहीं ऐसी शब्दयोजना की है कि वह निरी संस्कृत ही प्रतीत होती है :—

रामचंद्र-पदपद्म वृंदारक वृंदाभिवंदनीयम ।
केशव मति भूतनया-लोचनं चंचरीकायते ॥

केशव की भाषा में न्यूनपदत्व और अधिकपदत्व नामक दोषों की अधिकता है। कहीं तो पर्याप्त शब्दों का अभाव रहने से ठीक-ठीक अर्थ नहीं निकल पाता और कहीं कहीं व्यर्थ ही अनावश्यक शब्दों को ठूंस दिया गया है। केशव की भाषा यद्यपि ब्रजभाषा ही है परंतु बुन्देलखंडी का प्रभाव भी इनकी भाषा पर पड़ा है। यद्यपि तुलसी की रचनाओं में भी बुन्देलखंडी शब्द और मुहावरे दृष्टिगोचर होते हैं परंतु केशव की भाषा में बुन्देलखंडी शब्दों और मुहावरों की बाहुल्यता है। संज्ञा, सर्वनामों के रूपों, क्रिया के कालों और शब्द योजना में भी कहीं कहीं बुन्देलखंडी प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है। कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जो ब्रजभाषा में अप्रचलित से थे। परंतु केशव की भाषा में अरबी और फारसी शब्दों की संख्या बहुत कम है।

इन दोषों के साथ साथ केशव की भाषा में कुछ गुण भी हैं। प्रायः कहा जाता है कि भाषा में प्रसाद और माधुर्य का अभाव है तथा ओज गुण की ही अधिकता है परन्तु यह आरोप पूर्णतः सत्य माना नहीं जा सकता। यह अवश्य है कि कहीं कहीं कर्णकटु शब्दों की अधिकता सी है परन्तु केशव की भाषा में सरलता भी है। जहाँ कहीं केशव ने पांडित्य प्रदर्शन नहीं किया है वहाँ भाषा सरल, सुबोध और सरस देख पड़ती है। मधुरता का भी ऐसे स्थलों पर समावेश है। केशव की सरल और सुमधुर भाषा का एक उदाहरण देखिए :—

कैटभ सो, नरकासुर सो, पल में मधु सो, मुर सो निज मारयो।
लोक चतुर्दश रक्षक केशव, पूरन वेद पुरान विचारयो॥

श्री कमला-कुच-कुंकम-मंडन-पंडित देव अदेव निहारयो ।
सो कर माँगन को बलि पै करतारहु ने करतार पसारयो ॥

रामचंद्रिका की बजाय रसिकप्रिया की भाषा अधिक सरस और सुमधुर है। केशव की भाषा भावव्यजना की पूर्ण सहायक रही है। भाषा और भावों का घनिष्ठ सम्बंध है। यह अवश्य है कि काव्य में भावों का श्रेष्ठ रहना आवश्यक है परंतु यदि भाषा में भावों को अभिव्यक्ति करने की शक्ति न हो तो फिर भाषा भी उत्तम नहीं कही जा सकती। अंग्रेज़ी भाषा के प्रसिद्ध कवि पोप का कथन है कि काव्य की भाषा में यहीं आवश्यकीय नहीं है कि भाषा में कर्णकटुता न हो परंतु यह भी आवश्यक है कि शब्दावली का उच्चारण करते ही अर्थ भी प्रकट हो उठे :—

It is not enough' no harshness gives Offence
The sound mustseem an echo to the sense,

केशव ने कहीं-कहीं सरल शब्द योजना द्वारा ही बड़ी सुन्दर भाव व्यंजना की है। जब कौशल्या आदि माताओं से राम ने पूछा कि पिता तो सुख से हैं तब सब माताएँ कुछ कह न सकीं और राम की ओर देखकर रो पड़ीं :—

तब पूछियो रघुराइ। सुख है पिता तन माइ।
तब पुत्र को मुख जोइ। क्रम तें उठीं सब रोइ॥

यहाँ हृदगत भावों की अभिव्यंजना बड़ी ही सरल भाषा में की गई है। केशव ने मुहावरों का भी प्रयोग किया है परंतु लोकोक्तियों की ओर केशव ने रुचि नहीं दिखाई। कहीं-कहीं मुहाविरे बंदिश में केशव असफल भी रहे हैं। 'ओली ओड़ना' के सदृश्य कुछ ऐसे मुहावरों का भी प्रयोग केशव ने किया है जिनका कि ब्रजभाषा में प्रचार न था। 'माइ मिले मन का करिहौ, मुँह ही के मिलें तें कियो मन मैलो' और 'हरि त्यों टुक डीठि पसारत ही अँगुरीन पसारन लोक लगै' के सदृश्य कुछ इनेगिने मुहावरों का प्रयोग उचित ढंग से हुआ है।

अलंकारों की सहायता से भी भाषा सौंदर्य की अभिवृद्धि होती है। केशव ने स्वयं ही लिखा है :—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न, बिराजई कविता बनिता मित्त॥

केशव चमत्कार-वादी कवि थे अतएव उन्होंने अपने काव्य में अलंकार प्रदर्शन की भी चेष्टा की है। अलंकार व्यंजना वास्तव में भावाभिव्यक्ति या सौंदर्य चित्रण के हेतु की जाती है। केशव की अलंकार व्यंजना के विषय में ध्यान में रखना चाहिए कि केशव का ध्यान भावोत्कर्ष की ओर न होने से और चमत्कार की प्रवृत्ति के फलस्वरूप उन्होंने ऐसे ही अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है जो कि भावों की गंभीरता को प्रकट करने में समर्थ नहीं हैं। श्लेष, विरोधाभास और परिसंख्या इस दिशा में उल्लेखनीय हैं। केशव ने कहीं कहीं ऐसा श्लेष वर्णन भी किया है कि एक ही पद्य के तीन-तीन, चार-चार और कहीं कहीं पाँच-पाँच अर्थ भी निकलते हैं। कविप्रिया का एक कवित्त ब्रह्मा, कृष्ण, शिव, राम तथा अमरसिंह नामक पाँच व्यक्तियों के विषय में कहा जा सकता है। इस प्रकार के श्लेष वर्णन से कहीं कहीं ठीक ठीक अर्थ भी नहीं किया जा सकता। षट्ऋतुओं को उन्होंने शिव के समाज, सवर समूह, कालिका, सरद और नागरी नारी के रूप में चित्रित किया है। इस प्रकार प्रायः वस्तु वर्णन में केशव ने श्लेष की सहायता ली है।

सीताजी के अग्नि-प्रवेश के समय केशव ने सीता की मानसिक भावनाओं पर यद्यपि प्रकाश नहीं डाला है पर हाँ अलंकार व्यंजना अवश्य ही उत्तम की है। उपमा, उत्प्रेक्षा और संदेह की लड़ी सी लग गई है। उपमालंकार का एक उदाहरण देखिए :—

कि सिंदूर शैलाग्र में सिद्ध कन्या।
किधौं पद्मिनी सूर संयुक्त धन्या॥

सरोजसना है मनो चारु बानी।
जपा पुष्प के मध्य बैठी भवानी॥

यद्यपि केशव की अलंकार व्यंजना में न तो सहृदयता ही है और न वाग्वैदग्धता ही है परंतु हाँ कहीं-कहीं वर्णन उत्कृष्ट से हो गए हैं। सेना वर्णन, लंका में आग लगने का वर्णन, चंद्रमा का वर्णन और सीता के अग्नि-प्रवेश के वर्णन में केशव की उत्कृष्ट अलंकार-व्यंजना दृष्टिगोचर होती है। उत्प्रेक्षा और रूपक का भी केशव ने सफल प्रयोग किया है। इस विषय में केशव की सूझ और प्रतिभा की गंभीरता देख पड़ती है।

अतएव केशव की भाषा को निरा दोषमय ही नहीं माना जा सकता। केशव की भाषा कई अवसरों पर भावानुकूल रही है तथा कई स्थलों पर सरस, सुबोध और सुहावनी शब्दावली ही देख पड़ती है। यह अवश्य है कि केशव की भाषा उतनी अधिक मँजी हुई नहीं थी। रीतिकाल में जिस प्रकार ब्रजभाषा प्रौढ़ता को प्राप्त हुई वैसी केशव के समय में नहीं। मतिराम, बिहारी, देव और घनानंद के समान केशव की भाषा प्रौढ़ नहीं थी तथा उतनी अधिक प्रवाहमय भी न थी परंतु तो भी केशव की भाषा को उतना अधिक दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है।

केशव की भाषा को क्लिष्ट कहा जाता है और उन्हें क्लिष्ट काव्य का प्रेत भी माना जाता है तथा इस विषय में यहाँ तक प्रचलित है:—

कवि को दीन न चहै बिदाई।
पूछै केसव की कविताई॥

परंतु केशव की भाषा उतनी अधिक क्लिष्ट नहीं कही जा सकती। यों तो सूर और तुलसी के भी बहुत से छंद समझ में नहीं आते फिर केशव पर ही अकेले दोषारोपण क्यों किया जाय। रामचंद्रिका और रतन बावनी में अवश्य कहीं-कहीं भाषा क्लिष्ट हो गई है नहीं तो सरलता समान रूप से उनकी रचनाओं में देख पड़ती है।

आचार्यत्व

केशवदास के पूर्व ही सं० १५६८ में कृपाराम ने रस निरूपण का प्रयास किया था और इसी बीच मोहनलाल मिश्र ने भी शृंगार-सागर नामक पुस्तक में शृंगार-रस की विवेचना करने का कुछ-कुछ प्रयास किया था। इधर हिंदी साहित्य में ऐसे किसी ग्रंथ की विशेष आवश्यकता थी जिसमें कि संस्कृत साहित्य के काव्यांगों का विवेचन किया गया हो अर्थात् हिंदी साहित्य में रीति ग्रंथों के सृजन की इस समय आवश्यकता थी।

केशव का प्रादुर्भाव हिंदी साहित्य के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। हिंदी में रीति ग्रंथों का, सृजन करने का सर्वप्रथम श्रेय केशवदास को ही है। केशव ने कविप्रिया और रसिकप्रिया नामक दो रीति ग्रंथों का सृजन किया जिसमें से कविप्रिया में काव्यांगों का विवेचन है और रसिकप्रिया में रसों का। यह अवश्य है कि केशव ने अपनी समस्त सामग्री संस्कृत ग्रंथों से ही ग्रहण की तथा इस दिशा में केशव को दंडी का चिरऋणी स्वीकार करना ही होगा। अलंकारों के लक्षण दंडी के 'काव्यादर्श' से ग्रहण किए गए हैं ; कहीं-कहीं केशव मिश्र के 'अलंकार शेखर' और अमर रचित 'काव्य कल्पनावृत्ति' से भी इन्होंने सामग्री ग्रहण की है। नामों में अवश्य कहीं-कहीं हेर फेर हैं। केशव ने अलंकार शब्द का व्यापक अर्थ किया है।

यद्यपि केशव को रीति ग्रंथों का प्रथम रचयिता कहा जाता है तथापि आचार्य शुक्लजी के शब्दानुसार 'पर केशव के ५० या ६० वर्ष पीछे हिंदी में लक्षण ग्रंथों की जो परंपरा चली वह केशव के मार्ग पर नहीं चली।' इस प्रकार केशव के उपरांत ५० या ६० वर्ष तक रीति-कालीन कवियों की परंपरा टूटी सी रही और चिंतामणि के पश्चात् वह पूर्ण रूप से चल सकी अतएव शुक्लजी चिंतामणि को ही रीति ग्रंथों का प्रथम रचयिता मानते हैं।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि केशव और चितामणि के सिद्धांतों में भी अंतर है। केशव ने दंडी, रुय्यटक, केशव मिश्र का आधार लेकर रीति काल की प्रारंभिक अवस्था में जबकि अलंकार्य और अलंकारादि का भी स्पष्ट भेद न था अपने रीति ग्रंथों का सृजन किया। भामह, उद्भट आदि प्राचीन आचार्यों ने रस, रीति आदि अलंकारों के ही अंतर्गत माना है तथा केशव ने भी इन्हीं का अनुसरणकर रस को भी अलंकार के ही अंतर्गत माना है। चिंतामणि और उनके अनुयायियों ने रस को स्वतंत्र माना है और उसे अलंकारों के अंतर्गत स्थान नहीं दिया। अलंकारों का वर्णन चिंतामणि आदि ने चंद्रालोक और कुवलयानंद के आधार पर किया तथा रससिद्धांत के वर्णन में उन्होंने विश्वनाथ के साहित्यदर्पण का अनुसरण किया है।

रससिद्धांत में अवश्य आगे चलकर चिंतामणि की ही प्रणाली अपनायी गई परंतु केशव के अलंकार ही इस समय भी प्रचलित हैं। केशव का उद्देश्य काव्य सुषमा का प्रदर्शन करना न था बल्कि आचार्यत्व का प्रदर्शन ही उनका प्रमुख ध्येय था। रीति काल की आत्मा का साहित्यिक दृष्टिकोण से निरूपण करने और सिद्धांतों की विवेचना करने तथा उदाहरणों के लिए काव्य सृजन करने का प्रयास सर्वप्रथम केशव ने ही किया। इस प्रकार आचार्यत्व के प्रथम दर्शन केशव के ही काव्य में होते हैं। आचार्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि किसने कौन सी परंपरा अपनाई। इस प्रकार केशव को आचार्य माना जा सकता है और रीतिकालीन कवि परंपरा का सर्वप्रथम कवि उन्हें माना जा सकता है।

कवित्व

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का कथन है कि—"केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए।" यह तो हम प्रारंभ में ही लिख चुके हैं कि

चमत्कार प्रदर्शन की प्रकृति के फलस्वरूप केशव ने भावों की गंभीरता का ह्रास किया है। इंद्रजीत की सभा में रहने से केशव की भावुकता का ह्रास हो चुका था क्योंकि इंद्रजीत के दरबारी भावों की गंभीरता को सहानुभूति से देखते होंगे इसमें संदेह ही है। केशव संस्कृत के प्रकांड पंडित अवश्य थे परंतु संस्कृत साहित्य का स्तर भी उस समय उतना उच्च न था। भावोत्कर्ष के स्थान में चमत्कार प्रदर्शन को ही विशेष महत्व दिया जाता था। इस प्रकार केशव की रुचि स्वाभाविक ही भावों की गंभीरता की ओर न थी।

केशव की भाव-व्यंजना पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि केशव ने संस्कृत साहित्य का अत्याधिक आधार लिया है। 'रामचंद्रिका' में प्रसन्न राघव, हनुमन्नाटक, अनर्घपूर्व, कादंबरी और नैषध की उक्तियों का अनुवाद किया गया है। यह अवश्य है कि तुलसी और सूर ने भी संस्कृत ग्रंथों का आधार लिया है परंतु केशव और उनमें अंतर है। केशव ने कहीं-कहीं तो निरा शब्दानुवाद करके ही रख दिया है। तथा साथ ही कई ऐसे स्थल भी हैं जहाँ कि अनुवाद करने में भी वे सफल नहीं रहे।

राम वनवास के उपरांत जब भरत अयोध्या आए तब उन्होंने कैकेयी से राजा दशरथ और राम के विषय में पूछा। हनुमन्नाटक में इस प्रसंग का इस प्रकार उल्लेख किया गया है :—

> मातस्तातः क्वयातः सुरपति भुवनं हा कुतः पुत्रशोकात्।
> कोऽसौ पुत्रश्चतुर्णां त्वमवरजतया यस्य जातः किमस्य॥
> प्राप्तोऽसौ काननान्तं किमिति नृपगिराकिं तथासौ बभाषे।
> मद्वाग्बद्धः फलं ते किमिह तव धराधीशता हा हतोऽस्मि॥

केशव ने इस उक्ति का अनुवाद पूर्ण सफलता के साथ किया है:—

> मातु कहाँ नृप तात? गए सुरलोकहिं; क्यों? सुत-सोक लए।
> सुत कौन सु? राम, कहाँ हैं अबै? बन लच्छन सीय समेत गए॥

बन काज कहा कहि ! केवल मो सुख, तोको कहा सुख यामें भए ?
तुमको प्रभुता, धिक तोकों कहा अपराध बिना सिगरेई हए ॥

केशव ने वीरसिंह देव चरित और रामचंद्रिका नामक दो प्रबंध काव्य लिखे हैं परंतु इन दोनों को प्रबंध काव्य भी मानना ही संदेहास्पद है। प्रबंध काव्य की विशेषताओं का इनमें नितांत अभाव है। डा० रामकुमार वर्मा ने रामचंद्रिका के विषय में उचित ही लिखा है—"रामचंद्रिका में न तो कोई दार्शनिक और धार्मिक आदर्श है और न लोकशिक्षा का कोई रूप ही, जैसा 'मानस' में।" परंतु केशवदास को संवादों के लिखने में अवश्य अद्वितीय सफलता मिली है। भाव और भाषा का सुंदर संयोग इन स्थलों पर देख पड़ता है। रामचंद्रिका में ये संवाद प्रमुख हैं—रावण-बाणासुर संवाद, राम-परशुराम संवाद, परशुराम-बामदेव संवाद, कैकेयी-भरत संवाद, रावण-हनूमान संवाद, रावण-अंगद संवाद, सीता-रावण संवाद और लवकुश तथा विभीषणादि संवाद। इनमें रावण-बाणासुर संवाद, राम-परशुराम संवाद, रावण-अंगद संवाद तथा लवकुश-विभीषणादि संवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। इन संवादों में व्यंग्यपूर्ण शब्दावली है तथा क्रोध, उत्साह आदि भावों की कलापूर्ण व्यंजना है। जब विभीषण लवकुश से युद्ध करने के हेतु आते हैं तब उनका इस प्रकार की शब्दावली में स्वागत होता है :—

आउ विभीषण तू रन दूषन, एक तुही कुल को निज भूषन।
जूझ जुरे जो जगे भय जीके, सत्रुहिं आनि मिले तुम नीके ॥
देवबधू जबहीं हरि लायो, क्यों तबहीं तजि ताहि न आयो।
यों अपने जिय के डर आयो, छुद्र सबै कुल छिद्र बतायो ॥

को जानै कै बार तू, कही न ह्वै है माय।
सोई तैं पत्नी करी, सुन पापिन के राय ॥

केशव के संवाद कहीं-कहीं अत्याधिक लंबे हो गए हैं परंतु तो भी

उनमें नीरसता नहीं है। संवादों के लिखने में केशव निस्संदेह सफल रहे हैं और ऐसे सुंदर संवाद तुलसी भी न लिख सके।

केशव की वर्णन शैली भी प्रशंसनीय है। सरसता और हृदयस्पर्शिता रसिकप्रिया के उदाहरणों में देख पड़ती है। रसिकप्रिया में केशव ने शृंगार रस के अंतर्गत अन्य सभी रसों का वर्णन करना चाहा है परंतु इसमें वे पूर्ण असफल रहे हैं। कहीं-कहीं अश्लीलता के नग्न चित्र प्रदर्शित करने में भी केशव नहीं चूके। जिन परिस्थितियों में केशव रहते थे उसके ही अनुकूल उनकी भावनाएँ भी थीं। केशव ने कृष्ण को रसिक नायक के रूप में चित्रित किया है। यद्यपि गीतगोविंद, विद्यापति पदावली और सूर सागर में कृष्ण की शृंगारिक लीला का वर्णन किया गया है परंतु सर्वप्रथम केशव ने ही कृष्ण को रसिक नायक के रूप में चित्रित कर रीतिकालीन कवियों के लिए मार्ग सा खोल दिया। रीतिकालीन कवियों ने कृष्ण विषयक जो अश्लील कविताएँ रची हैं उसका श्रेय केशव को ही है।

केशव प्रकृति-वर्णन में भी असफल रहे हैं। प्राकृतिक दृश्यों के प्रति केशव की स्वयं ही रुचि न थी। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की सहायता से कहीं-कहीं इन्होंने प्रकृति वर्णन किया भी है पर तो भी उसमें सरसता का अभाव ही है। कहीं-कहीं श्लेष की भी सहायता ली गई है। प्रकृति वर्णन में कहीं-कहीं कालदोष भी हो गया है। देखिए :—

बेर भयानक-सी अति लगै। अर्क-समूह जहाँ जगमगै॥
पांडव की प्रतिमा सम लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ॥

पांडव को उत्पन्न होने को अभी एक युग बाकी पड़ा था परंतु कवि को इतना भी ध्यान न रह सका। सूर्योदय का वर्णन एक स्थल पर उन्होंने बड़ा सुन्दर किया है :—

चढ़्यो गगन तरु धाय, दिनकर-बानर अरुन-मुख।
कीन्हों झुकि झहराय, सकल तारका-कुसुम बिन॥

वृत्त रूपी गगन पर, अरुण मुँहवाला बंदर रूपी सूर्य दौड़कर चढ़ गया है और उसने पुष्प रूपी तारों को झकझोर कर झहरा दिया है। परंतु एक स्थान पर सूर्योदय का वर्णन करते समय कापालिक के खप्पर का वर्णन करने से भावोत्कर्ष का ह्रास सा हो गया है :—

परिपूरन सिंदूर पुर कैधौं मंगल घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ़्यो मानिक-मयूख पट॥
कै सोनित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग-भामिनि के भाल को॥

यहाँ मंगल घट के साथ-साथ रक्त से भरे हुए कापालिक के खप्पर का वर्णन किया गया है जिससे भाव-विरोध हो गया है। समुद्र, उपवन, भवन, चंद्र आदि का भी केशव ने वर्णन किया है। युद्ध और सेना का वर्णन केशव ने कुशलता से किया है। सीता की मुख-सुषमा का वर्णन करने में भी केशव पूर्ण सफल रहे हैं :—

हरि कर मंडन, सकल दुख खंडन,
मुकुर महि-मंडल को कहत अखंड मति।
परम सुबास, पुनि पीउष-निवास,
परिपूरनप्रकाश केसौदास भूअकास गति॥
बदन मदन कैसो, श्रीजू को सदन जिहि,
सोदर सुभोदर दिनेस जू को मीत अति।
सीताजू के मुख-सुषमा की उपमा को,
कहि कोमल न कमल, अमल न रजनिपति॥

यदि केशव चमत्कार प्रदर्शन के फेर में न पड़ जाते और काव्यांगों के विवेचन में न जुट जाते तो हो सकता है कि उनकी भावव्यंजना और भी अधिक निखर उठती। केशव में प्रतिभा थी और यदि वे चाहते तो उत्कृष्ट काव्य रचना कर सकते थे परंतु कुछ तो परिस्थितियों के कारण और कुछ भावुकता के अभाव में वे हृदयस्पर्शी भाव व्यंजना न कर सके। इतने पर भी केशवदास का हिंदी साहित्य में अपना

एक विशिष्ट स्थान है। यदि केशव को काव्य गगन का 'सूर्य' और 'सुधाकर' नहीं माना जाता तो कोई बात नहीं ; कम से कम 'उडुगन' तो माना ही जाता है और इस प्रकार 'खद्योतों' से तो निस्संदेह उनका महत्व अधिक है।

रसखान

परिचय

रसखान का ठीक-ठीक परिचय प्राप्त न होने से कई कथाएँ उनके विषय में प्रचलित हो गई हैं। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में इनका भी वृत्तांत दिया गया है। उस वृत्तांत के अनुसार रसखान पहले किसी बनिये के लड़के पर आसक्त थे। आप उस लड़के पर यहाँ तक मोहित थे कि उसका जूठन तक खा लिया करते थे। एक दिन एक वैष्णव ने उनसे कहा कि जितना अधिक प्रेम तुम इस वैश्य के लड़के से करते हो उतना ही ईश्वर से करते तो तुम्हारी मुक्ति हो जाती। रसखान ने पूछा कि ईश्वर कौन हैं, कैसे हैं और कहाँ रहते हैं? तब वैष्णव ने उन्हें श्रीनाथजी का एक चित्र दिखाया। चित्र देखते ही रसखान का मन उस लड़के से हट गया और वे गोकुल चले आए। उनकी इस सच्ची लगन को देखकर गोसाईं विट्ठलनाथजी ने भी उन्हें अपना लिया।

दूसरी कथा यह है कि ये एक स्त्री पर आसक्त थे परंतु वह रूपवती और अभिमानिनी होने से इनका बड़ा ही तिरस्कार करती थी। परंतु इतने पर भी वे उसे बड़ा ही प्यार करते थे। एक दिन ये श्रीमद्भागवत का फारसी अनुवाद पढ़ रहे थे। गोपियों का विरह वर्णन पढ़ते-पढ़ते इन्होंने सोचा कि जिसको सहस्रों गोपियाँ प्यार करती हैं उन्हीं से क्यों न इश्क किया जाय। बस इसी भावावेश में वे उस स्त्री को छोड़ वृन्दावन चले आये। 'प्रेमवाटिका' का यह दोहा इस कथन की पुष्टि भी करता है—

तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी-मान।
प्रेमदेव की छबिहिं लखि, भये मियाँ रसखान॥

यह भी कहा जाता है कि इनकी एक प्रेमिका ने इनसे एक दिन कहा कि जिस प्रकार तुम मुझे चाहते हो वैसा यदि उन्हें चाहते जिन्हें सहस्रों गोपियाँ चाहती हैं तो तुम कदाचित पागल हो जाते। बस रसखान इस ताने को सुनते ही वृन्दावन चले गए। चौथी कथा यह है कि एक बार कई मुसलमानों के साथ ये मक्का मदीना हज्ज करने जा रहे थे। मार्ग में ये व्रज में ठहर गये। वहाँ ये व्रजभूमि पर आसक्त हो गए और इन्होंने अपने साथियों से कहा कि आप लोग हज्ज करने जावें मैं तो यहीं रहूँगा। यह समाचार बादशाह के पास भी पहुँचाया गया और बादशाह क्रुद्ध भी हुआ परंतु रसखान ने बादशाह के क्रोधित होने का समाचार सुनकर यह दोहा कहा—

कहा करे रसखान को कोऊ चुगल लबार।
जो पै राखन हार हैं माखन चाखनहार॥

रसखान ने प्रेमवाटिका की रचना संवत् १६७१ में की है जैसा कि उसके निम्नांकित दोहे से सिद्ध भी होता है—

बिधु सागर, रस इंदु सुभ, बरस सरस रसखानि।
प्रेम वाटिका रचि रुचिर, चिर हिय हरषि बखानि॥

संवत् १६७१ से तीस या चालीस वर्ष घटाकर रसखान का जन्म संवत् जाना जा सकता है। रसखान ने प्रेमवाटिका में अपने विषय में एक दोहा लिखा है—

देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा-बंस की, ठसक छाँड़ि रसखान॥

इस दोहे के आधार पर इन्हें पठान सरदार माना जाता है। किसी-किसी ने इन्हें सैयद इबराहीम पिहानीवाला समझा है पर न तो 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में ही इसका उल्लेख है और न रसखान ने ही दिल्ली के स्थान पर पिहानी लिखा है। इस प्रकार इन्हें

सैयद इबराहीम पिहानीवाला माना नहीं जा सकता। वार्ता तथा प्रचलित प्रवादों के अनुसार ये आरंभ में बड़े ही प्रेमी जीव थे। इनका यह लौकिक प्रेम भगवद्भक्ति के रूप में परिवर्तित हुआ और ये श्रीकृष्ण के भक्त हो गए। इनका गोकुल आना प्रेमवाटिका के इस दोहे द्वारा भी सिद्ध होता है—

प्रेम-निकेतन श्रीवनहिं, आइ गोवर्धन धाम।
लह्यो सरन चित चाहिकै, जुगल सरूप ललाम॥

रसखान जी की प्रेमवाटिका और सुजान रसखान नामक दो पुस्तकें ही कही जाती हैं। प्रेमवाटिका में बड़े ही सुंदर दोहे हैं। रसखान ने कृष्णभक्ति शाखा के अधिकांश कवियों की भाँति गीति काव्य की शैली को न अपना कवित्त सवैयों में ही 'सुजान रसखान' की रचना की है।

भाषा

रसखान की भाषा बोलचाल की सरल ब्रजभाषा है। रसखान ने चमत्कार प्रदर्शन की तो चेष्टा की ही नहीं है अतएव सरलता का स्वाभाविक स्रोत उनकी शब्द योजना में देख पड़ता है। आचार्य पं० चंद्रबली पांडे ने इनकी भाषा के विषय में लिखा है—"रसखान की भाषा चलती हुई सरस, सरल और सुबोध ब्रज की भाषा है और है सर्वथा स्वच्छ, निर्मल और निर्दोष। शब्द छलकते हुए अपने रूप में चले आते हैं। उनको बनने-बिगड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती और वाक्य में जहाँ के तहाँ अपने आप बड़े ढंग से बैठे रहते हैं।"

रसखान की भाषा में प्रसाद गुण की अधिकता है। भाषा में सरलता होते हुए भी भावों की गंभीरता भी विद्यमान है। रसखान की सरल, सुमधुर, प्रवाहमय, भावगंभीर्य युक्त भाषा का यह उदाहरण देखिए :—

सोहत हैं चँदवा सिर मौर के, जैसिये सुंदर पाग कसी है।
तैसिये गोरज भाल बिराजति जैसी हियें बनमाल लसी है॥

रसखानि विलोकति बौरी भई दृग मूँदि कै ग्वारि पुकारि हँसी है।
खोल री घूँघट, खोलौं कहा, वह मूरति नैननि माँझ बसी है॥

उत्तम भाषा में अलंकारों का प्रादुर्भाव आप ही आप होता है। भाषा सौंदर्य की वृद्धि अलंकारों की सहायता से ही होती है। चंद्रालोक के रचयिता जयदेव ने इसीलिये लिखा है कि जो विद्वान अलंकार रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को उष्णता रहित क्यों नहीं मानता :—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

रसखान की भाषा में अलंकारों की स्वाभाविक व्यंजना है। अलंकारों का प्रयोग करने में कवि को अशिखापादांत परिश्रम नहीं करना पड़ा। उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण देखिए :—

मोहन जू के वियोग की ताप मलीन महाद्युति देह तिया की।
पंकज सो मुख गो मुरझाय लगीं लपटैं बिरहागि हिया की॥
ऐसे में आवत कान्ह सुने तुलसी सुतनी तरकी अँगिया की।
यों जगि जोति उठी तन की उसकाय दई मनौं बाती दिया की॥

रसखान की भाषा में अतिशयोक्ति, उपमा, रूपक और यमक अलंकार भी दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं-कहीं अनुप्रास भी स्वाभाविक रूप से आया है। भाषा में अनुप्रास लाने के हेतु प्रायः कवियों ने शब्दों को विकृत कर दिया है और इस प्रकार भाषा में अनुप्रास तो आ गया पर शब्द विकृति नामक दोष भी आ गया। परंतु रसखान ने शब्दों को विकृत नहीं किया है। अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए :—

कोटि करौ कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं।

रसखान की सी सरल सुबोध प्रवाह पूर्ण भावयुक्त ब्रजभाषा बहुत कम कवियों ने लिखी है।

काव्य-सौंदर्य

रसखान के विषय में जो प्रवाह प्रचलित हैं उनसे विदित होता है कि ये प्रारंभ में प्रेम का वास्तविक आनंद उठा चुके थे अर्थात् ये सच्चे प्रेमी जीव थे। रसखान का यह लौकिक प्रेम ही शनैः शनैः ईश्वर के प्रति परिवर्तित हो गया। भगवद्विषयक प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। ईश्वर के प्रति प्रेम प्रदर्शन करना ही ईश्वर के प्रति भक्ति प्रदर्शित करना है। 'भक्ति-रसामृत सिंधु' नामक पुस्तक में लिखा हुआ है कि अनुकूल भाव से ईश्वर के विषय में अनुशीलन करना ही भक्ति है :—

अन्याभिलषित–शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृत्तम्।
आनुकूल्येनं कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

इस प्रकार रसखान के काव्य में भक्ति और प्रेम दो ही विषय हैं। भगवान भी प्रेम के ही वशीभूत हैं, जहाँ प्रिय है वहीं प्रेमी भी है अर्थात् जहाँ भक्त है वहीं भगवान भी। रसखान ने इसे इस प्रकार चित्रित किया है :—

ब्रह्म मैं ढूंढ़यो पुरानन गायन, बेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यौं सुन्यौं कबहूँ न कितू, वह कैसे सरूप और कैसे सुभायन॥
टेरत-हेरत हारि परयौ 'रसखानि' बतायो न लोग लुगायन।
देखो, दुरयो वह कुंज कुटीर में, बैठयो पलोटतु राधिका-पायन॥

रसखान प्रेम वर्णन में पूर्ण सफल रहे हैं। रीतिकालीन कवियों की भाँति इनके प्रेम वर्णन में उच्छृंखलता और अश्लीलता नहीं है। शुद्ध प्रेम के ऐसे उदाहरण बहुत कम देख पड़ते हैं। प्रेम-तत्त्व का निरूपण करना आसान नहीं है। प्रेम रूपी पयोधि को पगार समझने-वाले मनुष्यों को लक्ष्यकर बिहारी कहते हैं—

गिरि तैं ऊंचे रसिक-मन बूड़े जहाँ हजार।
बहै सदा पसु नरन को प्रेम-पयोधि पगार॥

रसखान ने संयोगावस्था और वियोगावस्था दोनों का बड़ा मनोहर वर्णन किया है। विरहावस्था का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन उन्होंने किया है। जैसा कि महर्षि नारद ने 'भक्ति सूत्र' में लिखा है कि प्रेमी सर्वदा प्रिय के विषय में ही सुनना चाहता है और उसी का विचार भी करता है—

तत्प्राप्य तदेवालोकयति तदेव शृणोति तदेव चिंतयति।

गोपियाँ भी कृष्ण के विषय में ही सुनना चाहती हैं और आठों याम उन्हीं का ध्यान रखती हैं। गोपियाँ कृष्णमय ही हो गई हैं। वे कहती हैं—

उनही के सनेहन सानी रहैं उनही के जु नेह दिवानी रहैं।
उनही की सुनै न औ बैन त्यौं सैन सौं चैन अनेकन ठानी रहैं॥
उनही संग डोलन मैं रसखानि सबै सुखसिंधु अघानी रहैं।
उनही बिन ज्यों जलहीन ह्वै मीन सी आँखि मेरी अँसुवानी रहैं॥

रसखान की भाव व्यंजना बड़ी अनूठी है। कहीं-कहीं नूतन भावों की झलक देख पड़ती है। रसखान ने कृष्ण का रूप वर्णन भी किया है। प्रकृति वर्णन का अभाव सा है। शुद्ध शृंगार की जैसी रसधारा रसखान ने प्रवाहित की है वैसी अन्य कवि न प्रवाहित कर सके। उनकी काव्य कला निस्संदेह निखरी हुई है। श्रीवियोगी हरि ने उचित ही लिखा है—"प्रेम और भक्ति का जैसा सजीव और सुंदर चित्र रस-खानजी ने खींचा है, कदाचित वैसा किसी अन्य कवि ने खींचा हो।"

गंगाधरजी को दिया था परंतु 'कवित्त रत्नाकर' के संपादक पं० उमाशंकर शुक्ल एम्० ए० का कहना है कि 'अनूप' से कवि का तात्पर्य अनूपशहर से ही था, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। अनूपशहर का सम्बन्ध राजा अनूपसिंह बड़गूजर से है। अनूपसिंहने सन् १६१० ई० में एक चीते का सामना कर जहाँगीर की रक्षा की जिससे प्रसन्न होकर जहाँगीर ने उन्हें 'अनीराय-सिंह-दलन' की उपाधि और अनूप शहर का परगना दिया। अनूपसिंह की पाँच पीढ़ी उपरांत अचलसिंह हुए जिसके तारासिंह और माधोसिंह नामक दो पुत्रों में संपत्ति का बँटवारा हुआ तथा अनूपशहर तारासिंह को मिला। इस प्रकार यदि उस 'पंक्ति' के अनूप से अनूप शहर का तात्पर्य निकाला जाय तो फिर यदि अनूप शहर सेनापति के पिता को दे दिया गया था तो तारासिंह को वह कैसे बटवारे में मिला। इस प्रकार पं० उमाशंकर शुक्ल एम० ए० सेनापति का अनूप शहर का रहना विवाद ग्रस्त ही मानते हैं। सेनापति ने कवित्त रत्नाकर की पहली तरंग के ५६वें कवित्त में किसी सूर्यबली नामक राजा की भी प्रशंसा की है। किसी-किसी हस्तलिखित प्रति में 'सूर बलबीर' पाठ भी पाया जाता है।

सेनापति मुसलमानी दरबारों में भी रह चुके थे, यह उनके कवित्तों द्वारा ज्ञात होता है पर अभी तक इसका पता नहीं चला है कि सेनापति किस मुसलमान शासक के दरबार में थे। मुसलमानी दरबार से सेनापति को विरक्ति भी हो गई थी। कवित्त रत्नाकर की पाँचवीं तरंग के ३२ वें कवित्त में उन्होंने अपनी विरक्ति पर प्रकाश डाला है :—

केतौ, करौ कोई, पैये करम लिख्योई, तातैं,
दूसरी न होई, उर सोई ठहराइयै।
आधी तैं सरस गई, बीति कै बरस, अब,
दुज्जन दरस बीच न रस बढ़ाइयै॥
चिंता अनुचित तजि धीरज उचित सेना—
पति ह्वै सुचित राजा राम गुन गाइयै॥

चारि बरदानि तजि पाइक मलेच्छन के
पायक मलेच्छन के काहे कौं कहाइये ॥

'शिवसिंह सरोज' में लिखा हुआ है कि 'इन महाराज ने वृन्दावन में क्षेत्र-संन्यास लेकर सारी वयस वहीं व्यतीत की।' सेनापति ने कवित्त-रत्नाकर में लिखा भी है :—

महा मोह-कंदनि में जगत-जकंदनि में,
दिन-दुख दंदनि में जात है बिहाय कै।
सुख को न लेस है कलेस सब भाँतिन को,
सेनापति याही ते कहत अकुलाय कै॥
आवै मन ऐसी घरबार परिवार तजौं,
डारौं लोक लाज के समाज विसराय कै।
हरिजन पुंजनि में वृन्दावन-कुंजनि में,
रहौ बैठि कहूँ तरुवर-तर जाय कै॥

और भी—

सेनापति चाहत है सकल जनम भरि,
वृन्दावन सीमा तें न बाहिर निकसिबौ।
राधा-मन-रंजन की सोभा-मैन-कंजन की,
माल गरे गुंजन की, कुंजन कौं बसिबौ॥

(परंतु सेनापति प्रधानतः राम के भक्त थे। यों तो उन्होंने शिव और कृष्ण विषयक कवित्त भी लिखे हैं परंतु राम की ओर अधिक उनकी रुचि थी। कवित्त रत्नाकर की चौथी तरंग में तो रामकथा का ही वर्णन है। राम पर उनका इतना अधिक विश्वास था कि वे कहते हैं :—

और न भरोसौ, जिय परत खरोसौ, ताही
राम-पद-पंकज कौं पूरन भरोसौ है।

कवित्त रत्नाकर के कुछ छंदों द्वारा ज्ञात होता है कि सेनापति स्वाभिमानी व्यक्ति थे। स्थान-स्थान पर इन्होंने आत्म सम्मान पर विशेष जोर दिया है। भक्ति के क्षेत्र में भी वे यही कहते हैं कि यदि अपने

कर्मों द्वारा ही मैं इस भवसागर से पार हो सकता हूँ तो फिर मैं स्वयं ही ब्रह्म हूँ अतएव तुम्हें ब्रह्म मानना व्यर्थ ही है :—

आपने करम करि हौं हो निबहौंगो,
तौ तो हौ ही करतार, करतार तुम काहे के।

सेनापति के लिखे हुए 'कवित्तरत्नाकर' और 'काव्य कल्पद्रुम' नामक दो ग्रंथ कहे जाते हैं परंतु काव्य कल्पद्रुम का कुछ पता ही नहीं चलता अतएव कवित्त रत्नाकर ही एकमात्र ग्रंथ सेनापति का माना जा सकता है।। कवित्त रत्नाकर में ऐसे भी छंद मिलते हैं जिनमें रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ स्पष्ट देख पड़ती हैं। कवित्त रत्नाकर में पाँच तरंगें हैं। प्रथम तरंग में श्लेष वर्णन हैं जिसके छंदों की संख्या ९७ है; दूसरी तरंग में शृंगार संबंधी ७४ छंद हैं, तीसरी तरंग में ६२ छंद हैं जिनमें ऋतुवर्णन किया है, चौथी तरंग में ७६ छन्दों में रामायण वर्णन किया गया है तथा पाँचवी तरंग में ८६ छंद हैं जिनमें भक्ति वर्णन है। कवित्त रत्नाकर के कुल छंदों की संख्या ३९४ है परंतु कुछ छंदों की पुनरावृत्ति भी की गई है। 'कवित्त रत्नाकर' में कवित्तों की ही बाहुल्यता है तथा अन्य छंदों का अभाव है। कवित्त रत्नाकर की रचना संवत् १७०६ में हुई जैसा कि लिखा भी है :—

संवत सत्रह से छ में सेइ सियापति पाय।
सेनापति कविता सजी सज्जन सजौ सहाय।।

भाषा

सेनापति की भाषा ब्रज भाषा ही है। कवित्त रत्नाकर के छंदों का अवलोकन करने पर विदित होता है कि सेनापति को संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। संस्कृत साहित्य का अध्ययन होने पर भी सेनापति ने संस्कृत शब्दों की अधिकता अपनी भाषा में नहीं की। जिस प्रकार तुलसी ने संस्कृत शब्दावली की सहायता से भाषा को साहित्यिक स्वरूप

प्रदान किया उसी प्रकार से सेनापति ने भी अपनी भाषा को माँजने का प्रदान किया। परंतु केशवदास के सदृश्य सेनापति संस्कृत शब्दावली पर ही अवलंबित नहीं थे। भाषा पर उनका पूर्ण आधिपत्य था।

सेनापति की भाषा में उत्तम भाषा के तीनों गुण ओज, प्रसाद और माधुर्य देख पड़ते हैं। काव्य प्रकाश के रचयिता मम्मट का कहना है कि ओज दीप्ति है। यह मन को तेजयुक्त करता है। वीर रस में यह गुण पाया जाता है तथा वीभत्स और रौद्ररस में भी क्रमानुसार इसकी अधिकता रहती है—

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीर रस स्थितिः।
बीभत्स रौद्र रसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च॥

कवित्त रत्नाकर में ओजगुण का आविर्भाव हुआ है। केशव की भाँति क्लिष्ट पदावली का प्रयोग कर सेनापति भाषा में ओज नहीं ला सके हैं। सेनापति की भाषा में जैसा ओज देख पड़ता है वैसा बहुत कम कवियों की भाषा में दृष्टिगोचर होता है। एक उदाहरण देखिए—

हहरि गयौ हरि हिए, धधकि धीरत्तन मुक्किय।
ध्रुव नरिंद थरहरयौ, मेक धरनी धसि धुक्किय॥
अखिल पिक्खि नहिं सकइ, सेस नक्खिन लग्गिय तल।
सेनापति जय सद्द, सिद्ध उच्चरत बुद्धि बल॥
उद्दंड चंड भुजदंड भरि, धनुष राम करषत प्रबल।
टुट्टिय पिनाक निर्घात सुनि, लुट्टिय दिग्गंत दिग्गज विकल॥

ओज गुण लाने के हेतु कवि ने इस छंद में 'अक्खि' 'पिक्खि' 'टुट्टिय' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है परंतु कवित्त रत्नाकर में ऐसे शब्द भी हैं जिनमें कि शब्दों के द्वित्व रूपों का प्रयोग नहीं किया गया और ओज गुण का आविर्भाव भी हो गया है।

थोड़ी सी श्लिष्ट रचनाओं के अतिरिक्त अन्य रचनाओं में तो प्रसाद गुण की ही अधिकता है। सर्वत्र ही सरल और सुललित पदावली देख पड़ती है। सेनापति ने दुरूह शब्दावली का प्रयोग बहुत कम किया

है और अप्रचलित शब्द भी अपनी भाषा में नहीं रखे। सेनापति की भाषा में माधुर्य गुण का भी समावेश हुआ है—

नूपुर कौं झनकाइ मंद ही धरति पाइ,
ठाढ़ी आइ आँगन, भई ही साँभी यार सी।
करता अनूप कीनी, रानी मैंन भूप की सी,
राजै रासि रूप की, विलास कौं अधार सी।
सेनापति जाके दृगदूत ह्वै मिलत दौरि,
कहत अधीनता कौं होत हैं सिपारसी।
नेह कौं सिंगार सी, सुरत-सुख सारी, सो।
प्यारी मानौं आरसी, चुभी है चित आरसी॥

सेनापति से अलंकार व्यंजना भी की है। अलंकारों में सबसे अधिक प्रयोग श्लेप का किया गया है। कवित्त रत्नाकर की प्रथम तरंग में ही श्लेप वर्णन किया गया है। कवि की इन श्लिष्ट रचनाओं को देखने से पता चलता है सेनापति का ब्रजभाषा पर पूर्ण आधिपत्य था। केशव ने भी श्लेप वर्णन किया है परंतु उनके एक-एक छंद के कहीं-कहीं पाँच अर्थ तक निकलते हैं और अर्थ समझने में भी कठिनाई होती है। सेनापति के छंदों में प्रायः ऐसी कठिनाई नहीं होती। प्रायः प्रत्येक छंद में कुछ ऐसे शब्द होते हैं कि यदि उन पर ध्यान दिया जाय तो अर्थ सरलता से निकल आता है। श्लेप की सहायता से सेनापति ने नायिका को कहीं तो रतिराज की वाटिका के समान; कहीं पुरुषों की अथवा नवग्रह की माला के समान और कहीं मोहर के सदृश्य वर्णन किया है। दाता अरु सूम की समता भी की गई है। श्लेप वर्णन के सरल तथा सुबोध छंदों के अतिरिक्त कुछ ऐसे छंद भी सेनापति ने रचे हैं जिनके एक पक्ष का अर्थ तो सुविधा से निकाला जा सकता है पर दूसरे पक्ष का अर्थ समझ में नहीं आता। यह अच्छा ही है कि इस प्रकार के छंदों की संख्या न्यून ही है।

श्लेप के अतिरिक्त अनुप्रास, यमक, रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा का

भी प्रयोग किया गया है। ऋतु-वर्णन में कवि ने अर्थालंकारों की विशेषकर रूपक और उत्प्रेक्षा की अधिक सहायता ली है। उत्प्रेक्षा के एक-दो उदाहरण देखिए—

चारि मास भरि स्याम निसा को भरम करि,
मेरे जान याही ते रहत हरि सोइ कै।

और भी—

मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौं पकरि कौनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बिनवत है।

व्यतिरेक और प्रतीप का उपयोग भी कवि ने किया है। सेनापति की भाषा में मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है परंतु मुहावरों की अधिकता नहीं है। सेनापति की भाषा में विदेशी शब्द बहुत कम पाए जाते हैं कहीं-कहीं फ़ारसी के कुछ तद्भव रूप अवश्य मिलते हैं जिसका कारण कदाचित सेनापति का मुसलमानी दरबार में रहना है। सेनापति ने शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी बहुत कम है और प्रायः सर्वत्र ही सुव्यवस्थित शब्द योजना की है। व्याकरण की अशुद्धियाँ भी सेनापति की भाषा में नहीं के बराबर हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सेनापति की भाषा उत्तम भाषा के समस्त गुणों से परिपूर्ण थी। भाषा पर ऐसा अच्छा आधिपत्य बहुत कम कवियों का रह सका है।

काव्य-सुषमा

'कवित्त रत्नाकर' एक प्रकार का संग्रह सा है जिसमें भिन्न-भिन्न विषयों के छंद संग्रहित हैं। कवित्त रत्नाकर के छंदों को हम भक्ति संबंधी, रामायण वर्णन संबंधी, ऋतु वर्णन संबंधी, श्लेष वर्णन संबंधी तथा शृंगार वर्णन संबंधी नामक पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं। इन विभागों को देखने से पता चलता है कि सेनापति में वर्णन करने की अद्भुत क्षमता थी तथा उनकी वर्णन शैली प्रशंसनीय है।

सेनापति के भक्ति संबंधी छंदों को देखने से स्पष्ट पता चलता है

कि सेनापति सगुणोपासक थे। राम रसायन के प्रथम कवित्त में ही ये कहते हैं—

> द्वै के जिन जीव, ज्ञान, तन, मन, नति,
>
> जगत दिखायौ, जाकी रचना अपार है।
>
> टगन सौं देखें, विस्वरूप है अनूप जाकौ,
>
> बुद्धि मों विचारें निराकार निरधार है॥
>
> जाकौं अध-ऊरध, गगन दस-दिसि, उर
>
> व्यापि रह्यौ तेज, तीनि लोक कौ अधार है,
>
> पूरन पुरुष, हृपीकेस गुन-धाम राम,
>
> सेनापति ताही बिनवत बार-बार है॥

सेनापति सगुण-निर्गुण के विवाद में नहीं पड़ते। भिन्न-भिन्न अवतारों का वर्णन भी उन्होंने किया है। ग्राह से गजेंद्र को बचानेवाले ईश्वर के प्रति उन्होंने श्रद्धा प्रदर्शित की है और शिव, गंगा तथा वृंदावन विषयक छंद भी उन्होंने लिखे हैं। सेनापति के भक्ति संबंधी छंदों की प्रमुख विशेषता यह है कि उनमें जीवन की स्वाभाविक परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। मानसिक भावनाओं को बड़े सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

सेनापति के रामायण वर्णन संबंधी छंदों में उनकी प्रबंध पटुता दृष्टिगोचर होती है। सेनापति ने सिलसिलेवार संपूर्ण रामकथा नहीं लिखी है बल्कि विशेष-विशेष प्रसंगों का चयन कर कुछ रमणीय स्थलों का ही वर्णन किया है। वन-गमन, दशरथ-निधन और लक्ष्मण को शक्ति लगनेवाले प्रसंगों का कवि ने तनिक भी वर्णन नहीं किया तथा भरत का उल्लेख भी नहीं किया गया। राम कथा संबंधी इन छंदों में रस-परिपाक बड़ी कुशलता से हुआ है। शृंगार, रौद्र और वीर रस का वर्णन अधिक किया गया है। सेनापति ने वीर रस का सुंदर चित्रण किया है। युद्ध वर्णन तो इन्होंने कम किया है बल्कि युद्ध की तैयारी का वर्णन विशद रूप से किया है। महाबली कुंभकर्ण के रण तांडव

का वर्णन करने में सेनापति की लेखनी ने अपना जौहर दिखाया है। कवि कहता है कि यदि श्रीरामजी कुंभकर्ण की बाहों को काट न डालते तो वह अवश्य ही मार्तंडमंडल को भी उखाड़ डालता—

जुद्ध-मद अंध दसकंधर के महाबली,
बीर महाबीर डारे बारन बिदारि कै।
कोउ तुंग श्रृंगनि, उतंग भूधरन कोऊ,
जोई हाथ परै सोई डारत उखारि कै।
जौ कहुँ नरिंद सेनापति रामचंद ताकी,
बाहु अध-चंद सौं न डारै निरवारि कै।
तौ-तौ कुंभकरन चलाइबै कौं फूल जिमि,
लै तौ मारतंड हू कौं मंडल उचारि कै।

सेनापति की कल्पना शक्ति निस्संदेह प्रशंसनीय है। कवि ने कहीं-कहीं बड़ी सुंदर नूतन कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। मानस की तल्लीनता को भी उन्होंने चित्रित किया है और भावुकता का भी उनके छंदों में समावेश है। रूप वर्णन और विभावाचित्रण भी उनका सराहनीय है। परशुराम का प्रचंड रूप उन्होंने कुशलता से वर्णन किया है। युद्ध में संलग्न श्रीरामचंद्र का चित्रण भी प्रशंसनीय है।

सेनापति का ऋतुवर्णन हिंदी साहित्य में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। जायसी के सदृश्य सेनापति ने केवल उद्दीपन की ही दृष्टि से ऋतु वर्णन नहीं किया है बल्कि शुद्ध प्रकृति सौंदर्य का चित्रण भी किया है। प्रकृति के विभिन्न रूपों का चित्रण करने में वे पूर्ण सफल रहे हैं। शरत ऋतु का वर्णन देखिए—

कातिक की राति थोरी-थोरी सियराति सेना-
पति है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं॥

उदित बिमल चंद, चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन है।
तिमिर हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर सागर मगन है॥

सेनापति ने सौंदर्य-वर्णन भी किया है। नखशिख वर्णन भी उनका कलापूर्ण है। सेनापति ने प्रेमवर्णन भी किया है। संयोग और वियोग दोनों पक्षों का मर्मस्पर्शी वर्णन उन्होंने किया है। अश्लीलता और वासना मूलक शृंगारिक रचनाएँ सेनापति ने नहीं लिखी हैं बल्कि शुद्ध प्रेम का ही निरूपण किया है। रस व्यंजना में तो वे पूर्ण सफल रहे हैं। इस प्रकार सेनापति की काव्य कला कुशलता की जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही है। 'मिश्रबंधु' उन्हें प्रथम श्रेणी का कवि मानते हैं जो उचित ही है।

बिहारी

परिचय

बिहारी धौम्य गोत्री श्रोत्रिय माथुर चौबे थे। श्रीराधाचरण गोस्वामी बिहारी का जन्म स्थान मथुरा मानते हैं तथा मिश्रबंधुओं ने और आचार्य शुक्लजी ने बसुआ गोविंदपुर का बिहारी का जन्म स्थान माना है परंतु वास्तव में बिहारी का जन्म स्थान ग्वालियर था:—

जनम ग्वालियर जानियै, खंड बुंदेले बाल।
तरुनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल॥

कहते हैं, यह दोहा बिहारी का लिखा हुआ है परंतु हो सकता है कि इसे किसी उनके चरित्र वर्णन करनेवाले ने लिखा हो। इस दोहे से यह तो स्पष्ट ही हो गया कि बिहारी का जन्म वास्तव में ग्वालियर में हुआ था और मथुरा उनकी ससुराल थी। बिहारी का जन्म संवत १६५२ में हुआ था जो कि निम्नांकित दोहे से ज्ञात भी होता है—

संवत जुग२ सर५ रस६ सहित भूमि रीति गिन लीन्ह।
कातिक सुदि बुधि अष्टमी, जनम हमहिं विधि दीन्ह॥

बिहारी के पिता का नाम केशवराय था।

प्रगट भए द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसवराइ॥

बिहारी के भानजे कुलपति मिश्र ने अपने ग्रंथ 'संग्रामसार' के प्रारंभ में एक दोहा लिखा है जिससे विदित होता है कि बिहारी के पिता का नाम केशवराय ही था—

कबिबर मातामह सुमिरि, केसव केसवराइ।
कहौं कथा भारत्थ की, भाषा छंद बनाइ॥

बाबू राधाकृष्णदासजी ने प्रसिद्ध कवि केशव को बिहारी का पिता माना है परंतु इस कथन को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। रत्नाकरजी केशव को बिहारी का गुरु मानते हैं जो उचित भी हो सकता है। परंतु केशवदास के पास बिहारी अधिक समय तक अध्ययन न कर सके होंगे क्योंकि प्रेतयज्ञ की घटना संवत १६१४ के पूर्व ही घट चुकी थी और यदि उस घटना को सत्य माना जाय तो स्वाभाविक ही बिहारी अधिक समय तक केशव के पास अध्ययन करने से वंचित रह गए होंगे। कहा जाता है बिहारी ने नरहरिदासजी से दीक्षा भी ली थी।

संवत् १६७५ में जहाँगीर वृन्दावन गया था। जहाँ कि शाहजहाँ भी उसके साथ था। शाहजहाँ ने नरहरिदासजी के भी दर्शन किए और उस समय बिहारी भी वहीं महात्माजी के पास थे। शाहजहाँ बिहारी को अपने साथ आगरे ले आया। आगरे में बिहारी ने फ़ारसी उर्दू का भी अध्ययन किया। कहते हैं आगरे में बिहारी की रहीम से भी भेंट हुई और एक दोहे पर उन्हें बहुत सा पुरस्कार मिला। पं० नकछेदी तिवारी ने भारत जीवन प्रेस बनारस से प्रकाशित रहीम की 'बरवै नायिका भेद' की भूमिका में लिखा है—"खानखानाजी पंडित, कवि, मुल्ला, शायर, ज्योतिषी, सवैया, बजवैया, तीरंदाजी, बरकंदाज इत्यादि सब गुणवान मनुष्यों के बड़े क़द्रदान थे। इनकी सभा अहर्निश विद्वद्जनों से भरीपुरी रहती थी। इन्हीं महाराज ने सतसईकार बिहारीलालजी को एक दोहे पर, खड़ा करके अशर्फ़ियों से तोपवा दिया था।"

सं० १६७७ में शाहजहाँ ने एक बड़ा उत्सव किया था जिसमें भारत के बहुत से राजा महाराजा सम्मिलित हुए थे। बिहारी का परिचय उन राजाओं से भी हुआ और उनकी कविता पर मुग्ध हो उन राजाओं ने बिहारी की वार्षिक वृत्ति बाँध दी। नूरजहाँ की कूटनीति से सं० १६७८ में जहाँगीर और शाहजहाँ के मध्य वैमनस्य हो गया।

शाहजहाँ की परिस्थितियाँ स्वयं डाँवाडोल होने से बिहारी ने भी आगरा छोड़ दिया।

सं० १६९१-९२ के आसपास बिहारी आमेर गए। आमेर के महाराज जयसिंह ने उस समय एक नवीन रानी से ब्याह किया था। उसके सौंदर्य और प्रेम से मुग्ध हो उन्होंने राजकाज की भी सुधि विस्मरण कर दी थी तथा दिन रात अंतःपुर में ही पड़े रहते थे। उनकी यह आज्ञा भी थी कि हमारे रंग में भंग करनेवाले की ख़ैर नहीं है। इस कारण से किसी को भी कुछ कहने का साहस नहीं होता था। बिहारी को जब यह समाचार ज्ञात हुआ तब उन्होंने निम्न लिखित दोहा लिखकर राजा के पास पहुँचाया—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली! कली ही सौं बंध्यो, आगैं कौन हवाल॥

इस दोहे को पढ़ते ही महाराज की आँखें खुल गईं और वे तुरंत ही अंतःपुर से बाहर आए। बिहारी का उन्होंने बड़ा ही स्वागत किया और बहुत सा पुरस्कार दिया तथा उनसे आमेर में ही रहने का अनुरोध किया और कहा कि यदि वे इसी प्रकार के दोहे बनाकर सुनाया करें तो उन्हें प्रति दोहा एक मुहर पुरस्कार में मिला करेगी। महाराजा जयसिंह की प्रधान महारानी चौहानी रानी भी महाराज को सौत के प्रभाव से मुक्त देख प्रसन्न हुईं और बिहारी को 'काली पहाड़' नामक ग्राम पुरस्कार में दिया तथा उक्त घटना सम्बन्धी बिहारी का एक चित्र भी बनवाया।

बिहारी अब आमेर में ही रहने लगे। चौहानी रानी के पुत्र कुमार रामसिंह के शिक्षक बिहारी ही नियुक्त हुए। बिहारी के कोई संतान नहीं थी, अतएव उन्होंने अपने भतीजे निरंजन को गोद लिया। कहा जाता है कि बिहारी के पुत्र कृष्णलाल थे जिन्होंने बिहारी सतसई पर सवैयों में एक टीका लिखी है परंतु रत्नाकरजी का कहना है कि निरंजन

अर्थ ध्वनित करनेवाले सुंदर प्रचलित शब्दों की सुकर सजावट, रसानुकूल भाषा का प्रवाह, मुहाविरे की तेजी आदि सभी दर्शनीय हैं। फिर बिहारीलालजी ने माधुर्य और प्रसाद को तो अनुचर-सा बना डाला है।"

भाषा में माधुर्य-ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों का होना परमावश्यकीय है परंतु इन सबमें माधुर्य का होना तो नितांत आवश्यक है। बिहारी की भाषा इस गुण के लिए अत्याधिक प्रसिद्ध है। उनकी बिहारी सतसई तो मानों मधुरिमा से ही ओतप्रोत है। ऐसा विदित होता है कि मानों वह पियूष से परिपूर्ण कोई पयोधि हो अथवा मधुरता से उमड़ा हुआ कोई पारावार। ब्रजभाषा तो अपनी मधुरता के लिए सर्वदा प्रसिद्ध रही है फिर बिहारी सतसई की भाषा तो मानो सोने में सुगंध के समान है। श्रीपद्मसिंहजी शर्मा ने बहुत ठीक लिखा है— "संस्कृत-भाषा के माधुर्य में किसी को कलाम नहीं है, पर ब्रजभाषा का माधुर्य भी एक निराली चीज़ है। वह सितोपला है, तो यह द्राक्षा है। बिहारी श्रृंगारी कवि, भाषा, ब्रजभाषा, श्रृंगार-रस की कविता (श्रृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्) अहो रम्य परंपरा। इसका आस्वादन कर चुकने पर भी यदि चित्त वृत्ति कुसंस्कार-वश कहीं अन्यत्र रसास्वाद के लिए जाना चाहती है, तो सहृदयता बिहारी के शब्दों में मचलकर कहती है—

मो रस राच्यो आन रस कहे कुटिल मति कूर।
जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी चाखि अँगूर॥

मन को द्रवीभूत करनेवाला अल्हाद माधुर्य कहलाता है। जिस रचना में त, ड, ढ, ड़, ढ़ आदि वर्गों का अभाव हो, कोमलकांत पदावली हो, अनुसार युक्त वर्ण हों तथा न तो मीलित वर्णों की ही बाहुल्यता हो और न तो लंबे-लंबे समास ही हों वह रचना माधुर्य-गुण सम्पन्न' कहलाती है। सानुनासिक वर्णों के प्रयोग से उसकी शोभा और अधिक द्विगुणित हो उठती है। बिहारी सतसई में माधुर्य गुण की ही अधिकता है। उदाहरण स्वरूप निम्नांकित दोहे देखिए—

अरुन वरन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार।
चुँवति सुरँग रँग सी मनों चँपि बिछियन के भार॥

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं, भौंहनु हँसै, दैन कहैं, नटि जाइ॥

भाषा में उस समय एक विशेष प्रकार की माधुर्यता देख पड़ती है जब कि उनके शब्दों से किसी प्रकार की झंकार-सी उठती हो। यह शब्द-झंकृति मानस में एक नूतन आह्लाद उत्पन्न करती है। जिस प्रकार कि घनानंदजी के एक कवित्त के एक चरण की इस पंक्ति में "आनंद-विधान सुखदान दुखियानि दै" में मृदंग की धीमी-धीमी ध्वनि-सी कर्णगोचर होती है, उसी प्रकार विहारी के इस दोहे को देखिए जिससे घंटा बाँधे हुए मतंग के चलने और वायु के संचरित होने की ध्वनि-सी निकलती है—

रनित भृंग घंटावली झरत दान मधु-नीर।
मंद-मंद आवत चल्यौ कुंजर कुंज समीर॥

इसी प्रकार निम्नांकित दोहे के शब्द युग्म 'झमकि-झमकि' द्वारा आभूषणों की ध्वनि-सी उत्पन्न होती है—

ज्यौं-ज्यौं आवति निकट निसि त्यौं-त्यौं खरी उताल।
झमकि-झमकि टहलैं करै लगी रहचँटैं बाल॥

बिहारी ने बोल चाल में भी भाषा की उत्कृष्टता प्रदर्शित की है और कदाचित् इसीलिये मिश्र बंधुओं ने 'हिंदी नवरत्न' में लिखा है—"इन कविरत्न की बोलचाल बहुत ही स्वाभाविक है। इन महाकवि ने इबारत आराई भी खूब ही की है।" बिहारी शब्दालंकारों के प्रयोग में बहुत अधिक सफल रहे हैं। अनुप्रास द्वारा भाषा चमत्कृत-सी हो उठती है। बिहारी के अधिकांश दोहों में अनुप्रास की छबीली घटा छहरा रही है।

लहलहात तन तरुनई, लच लग लौं लफ जाइ।
लगैं लंक लोचन भरी, लोचन लेत लगाइ॥

वृत्यानुप्रास और छेकानुप्रास बिहारी के कई दोहों में पाया जाता

है। वृत्यानुप्रास युक्त यह उदाहरण देखिए; रेखांकित शब्दों के प्रयोग ध्यान देने योग्य हैं।

नख-रेख सौंहैं नई, अल सौंहैं सब गात।
सौंहैं होत न नैन ये, तुम कत सौंहैं खात॥

साहित्यिकों ने यमक को सभी अलंकारों में श्रेष्ठ माना है। बिहारी के दोहों में यमकालंकार का प्रयोग बड़ी ही कुशलता से हुआ है। निम्नांकित दोहे में कनक शब्द की पुनरावृत्ति की गई है जिसके कि धतूरा और स्वर्ण दो अर्थ निकलते हैं:—

कनक-कनक तैं सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाए बौराय नर, यह पाए बौराय॥

यमकालंकार की भाँति श्लेषालंकार के भी बहुत से उदाहरण 'बिहारी सतसई' में उपलब्ध होते हैं। महर्षि वेदव्यास ने अर्थालंकार के बिना सरस्वती को विधवा माना है—'अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती।' इस प्रकार काव्य में अर्थालंकार का प्रयोग होना आवश्यकीय है। बिहारी सतसई में अर्थालंकारों के कई उदाहरण मिलते हैं। अर्थालंकारों में सबसे अधिक उत्प्रेक्षा का ही प्रयोग बिहारी ने किया है। रूप-वर्णन में प्रायः उत्प्रेक्षा से ही सहायता ली गई है।

सोहत ओढ़ैं पीत पटु, स्याम, सलौनैं गात।
मनो नीलमनि सैल पर, आतपु परयौ प्रभात॥

उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त उपमा, रूपक और अन्योक्ति का भी प्रयोग किया गया है। बिहारी अलंकार व्यंजना में पूर्ण सफल रहे हैं और इस प्रकार बिहारी सतसई का कलापक्ष निखरा हुआ देख पड़ता है।

भाषा सौंदर्य के हेतु मुहावरों का प्रयोग भी परमावश्यक है। मुहावरों के उपयोग से भाषा में एक नूतन रंग-सा चढ़ जाता है। बिहारी मुहाविरे बंदिश में भी पूर्ण सफल रहे हैं। बाबू राधाकृष्णदास का कथन है कि—"मुहाविरे और उत्प्रेक्षा के तो बिहारीलाल बादशाह हैं। हिंदी में ऐसी बोलचाल और ऐसे गठे हुए वाक्य किसी की कविता

अधिक प्रयोग किया गया है जो खास बुन्देलखंड का ही है और जिसका अर्थ संग या साथ माना जाता है। देखिए:—

> चिलक चिकनई, चटक स्यौं, लफटि सटक लौं आइ।
> नारि सलोनी साँवरी नागिन लौं डसि जाइ॥
> स्यौं बिजुरी मन मेह, आनि इहाँ बिरहा धरे।
> आठौ जाम अछेह, दग जु बरत बरसत रहत॥

इनमें से प्रथम दोहे में 'स्यौ' का पाठ चाहे 'सौं' मान भी लिया जावे परंतु द्वितीय दोहे में बुन्देलखंडी 'स्यौं' तो है ही पर साथ ही अवधी का 'इहाँ' भी विराजमान है जो कि व्रज में 'ह्याँ' माना जाता है। बिहारी के पूर्व 'स्यौं' का प्रयोग अप्रचलित था परंतु बिहारी के उपरांत इस 'स्यौं' का प्रयोग और दूसरे कवियों ने भी किया। देखिए:—

> स्यौं ध्वनि अर्थनि वाक्यनि लै गुन शब्द अलंकृत सो रति पानी।
>
> (काव्य निर्णय)

बिहारी की भाषा में पूरबी प्रयोग भी पाए जाते हैं। निम्नांकित दोहे में बिहारी ने 'लजियात' शब्द का प्रयोग किया है जोकि पूरबी प्रयोग तो है ही परंतु तुकांत के लिए भी अनुपयुक्त है।

> कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
> भरे भौन में करत हैं नैनन हीं सब बात॥

बिहारी ने अवधी के 'आहि' का भी प्रयोग किया है। कुछ अंशों में इन प्रयोगों को तो क्षम्य किया भी जा सके, परंतु व्रज भाषा सौंदर्य का ह्रास करनेवाले 'लीन' 'कीन' 'दीन' प्रयोग भला कहाँ तक क्षम्य माने जा सकते हैं। इससे भी अधिक भद्दा और अरुचिकर प्रयोग तो 'नित्य' का किया गया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि कवि मानों भाषा के साथ खिलवाड़ कर रहा है। बिहारी ने खड़ी बोली के कृदंत और क्रियापद भी अपनाए हैं। बिहारी की भाषा में लिंग दोष भी है। एक ही शब्द को यदि कहीं स्त्रीलिंग माना गया है तो उसी शब्द को दूसरे स्थान पर पुल्लिंग माना गया है।

बिहारी ने शब्दों को बहुत कम विकृत किया है और एक या दो विकृत शब्द ही उनकी भाषा में उपलब्ध होते हैं नहीं तो सर्वथा ही स्वच्छ, सबल, सरस, सजीव और सुकुमार शब्दावली ही दृष्टिगोचर होती है। स्मर के लिए समर लगा कर्कै जैसे दो-तीन विकृत शब्द ही देख पड़ते हैं नहीं तो सर्वत्र भाषा सौंदर्य निखरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। किसी कवि ने उचित ही लिखा है:—

> ब्रजभाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि-बिसाल।
> सबकी भूषन सतसई रची बिहारीलाल॥

काव्य-सौंदर्य

बिहारी सतसई बिहारी काव्य-कला कुशलता की परिचायक है। केवल सात सौ दोहों की सतसई ने ही बिहारी को कीर्तिशाली बना दिया। इससे सिद्ध होता है कि किसी कवि की कीर्ति उसकी कृतियों के परिमाण पर आधारित नहीं रहती बल्कि उसके गुणों पर निर्भर रहती है। बिहारी का कल्पना क्षेत्र विस्तृत था। हृदय-पक्ष और कला पक्ष दोनों का ही स्वरूप बिहारी सतसई में निखरा हुआ दृष्टिगोचर होता है।

रीतिकाल को शृंगार काल भी कहा जाता है क्योंकि शृंगार रस की ही प्रधानता काव्य कृतियों में दृष्टिगोचर होती है। 'बिहारी-सतसई' में भी शृंगार रस की ही प्रधानता है। शृंगार के संयोग और वियोग पक्षों की अभिव्यंजना बिहारी ने कुशलता से की है। बिहारी का प्रेम-वर्णन बड़ा ही मनोग्राही और चित्ताकर्षक है। प्रेमावस्था की विभिन्न दशाओं का चित्रण कवि ने कुशलता से किया है। बिहारी के प्रेम वर्णन पर विदेशी प्रभाव भी पड़ा है। जिस प्रकार जायसी और कबीर के प्रेम वर्णन में कहीं-कहीं विदेशी प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है उसी प्रकार बिहारी के प्रेम वर्णन में कहीं-कहीं विदेशी प्रभाव देख पड़ता है। निम्नांकित दोहे विरहावस्था में नायिका की साँस लेने पर झूला-सा झूलने लग जाना विदेशी ढंग का ही है :—

इत आवति चलि जाति उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं-सैं रहै, लगी उसासनु साथ॥

परंतु बिहारी ने इन भावों को उस ढंग से चित्रित किया है कि वे प्रायः भारतीय ही प्रतीत होते हैं और इस प्रकार उनका प्रेम वर्णन निस्संदेह प्रशंसनीय है।

प्रेम और सौंदर्य ये ही दो प्रमुख विषय अन्य रीतिकालीन कवियों की भाँति बिहारी के भी थे। बिहारी प्रसंगों की कल्पना करने में पूर्ण दक्ष थे और इन्हीं नूतन कल्पनाओं के फलस्वरूप उनका प्रेम वर्णन परंपरागत होने पर भी कुछ उत्कृष्ट सा दिखाई देता है। सौंदर्य वर्णन में भी बिहारी को सफलता मिली है। बाह्य सौंदर्य के अंतर्गत प्रकृति वर्णन भी इन्होंने किया है। ऋतु-वर्णन में इन्होंने प्रकृति के सुंदर-सुंदर चित्र प्रस्तुत किए हैं और उद्दीपन विभाव की दृष्टि से भी ऋतु वर्णन किया है। मानवेतर सौंदर्य-वर्णन भी कला पूर्ण है। नखशिख वर्णन भी इन्होंने किया है। नेत्रों संबंधी दोहों में उनकी काव्यकला निखर-सी उठी है। रूप वर्णन में उन्होंने अलंकारों की सहायता ली है और सौंदर्य का जीता जागता वर्णन सा किया है। बिहारी की प्रतिभा की सराहना करते हुए 'मिश्रबंधु' ने 'हिंदी नवरत्न' में उचित ही लिखा है—"बिहारी की दृष्टि संसार के सभी पदार्थों पर बड़ी पैनी पड़ती थी, और यह महाशय अपने मतलब की बात खूब देख लेते थे। इन्होंने रंगों और उनके मिलाव का बड़ा श्लाघ्य वर्णन किया है। × × × इन कविवर ने रंगों के साथ संसार और प्रकृति का भी निरीक्षण बहुत अच्छा किया है, विशेषकर मानुषी प्रकृति का। इनके प्रायः सभी दोहों में प्रकृति-पर्यवेक्षक देख पड़ता है।"

बिहारी की भाव व्यंजना वास्तव में बड़ी ही मनोहारिणी है। उनके दोहों में बहुज्ञता का आभास भी मिलता है। पौराणिक, दार्शनिक, ज्योतिष, नीति आदि की सूक्तियाँ भी उनके दोहों में। निम्नांकित दोहे से बिहारी की आयुर्वेद की जानकारी का पता चलता है:—

यह विनसत नग राखिकै जगत बड़ो जसु लेहु।
जरी विषमज्वर ज्याइए, आय सुदरसन देहु॥

विषमज्वर को दूर करने के लिए सुदर्शन चूर्ण का सेवन प्रसिद्ध ही है तथा विरह में दग्ध गोपियाँ भी सुदर्शन अर्थात् श्रीकृष्ण का दर्शन चाहती हैं। इसी प्रकार का भाव रत्नाकर के निम्नांकित कवित्त में भी देख पड़ता है:—

रस के प्रयोगिनि के सुखद सुजोगिनि के,
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन,
देत ना सुदर्सन हूँ यौं सुधि सिराई हैं॥
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि कौ,
भाय पयौं अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं।
ह्याँ तौ विषमज्वर-वियोग की चढ़ाई यह,
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं॥

बिहारी ने नायिका-भेद का भी वर्णन किया है। नायिका भेद का वर्णन करते समय कहीं-कहीं अश्लीलता का भी समावेश हो गया है और इस प्रकार कुरुचि प्रवर्तिनी भावव्यंजना भी कहीं-कहीं देख पड़ती है। बिहारी ने ग्रामीण नायिकाओं का भी वर्णन किया है। जिस प्रकार नागरी का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं:—

खेलन सिखए, अलि, भलैं चतुर अहेरी मार।
कानन चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार॥

उसी प्रकार ग्रामीण नायिका का वर्णन भी सफलता के साथ करते हैं:—

पहुला-हाक हियैं लसै, सन की बेंदी भाल।
राखति खेत खरी खरी, खरे उरोजनु बाल॥
गोरी गदकारी परैं हँसत कपोलन गाड़।
कैसी लसति गँवारि यह सुनकिरवा की आड़॥

बिहारी ने भक्ति भावनापूर्ण भी कुछ दोहे लिखे हैं। बिहारी ने आर्या सप्तशती और गाथा सप्तशती से प्रायः भाव ग्रहण किए हैं पर मौलिकता भी उनके दोहों में विद्यमान है। बिहारी सतसई का प्रभाव परवर्ती कवियों पर अत्याधिक पड़ा है और परवर्ती कवियों ने बिहारी सतसई से अधिकाधिक भाव-ग्रहण किए हैं। बिहारी की काव्य कला निस्संदेह सराहनीय है और जैसा कि वियोगी हरि ने लिखा है वह उचित ही है :—

"इनका एक एक दोहा टकसाली और अनमोल रत्न है। ये रत्न क्षीरसागर के रत्नों से कहीं अधिक चोखे और अनोखे हैं।"

किसी कवि ने लिखा भी है :—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥

भूषण

परिचय

यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भूषण कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। भूषण को भाट कहना उनका ही नहीं हिंदी साहित्य का अपमान करना है। रसचंद्रिका के रचयिता बिहारीलालजी जो चरखारी के महाराज विक्रमादित्य के राजकवि थे, बिहारी को कान्यकुब्ज ब्राह्मण माना है। भूषण ने शिवराज भूषण नामक अपनी प्रसिद्ध कृति में अपना आत्म-परिचय इस प्रकार दिया है :—

> देसन-देसन तें गुनी, आवत जाचन ताहि।
> तिनमें आयो एक कवि, भूषण कहियतु जाहि॥
> द्विज कनौज कुल कस्यपी, रतनाकर सुत धीर।
> बसत त्रिविक्रमपुर सदा, तरनि तनूजा तीर॥
> बीर बीरबर से जहाँ, उपजे कवि अरु भूप।
> देव बिहारी ईस्वर जहाँ, विस्वेस्वर-तद्रूप॥

इन पंक्तियों से विदित होता है कि भूषण के पिता का नाम रत्नाकर था वे त्रिविक्रमपुर के वासी थे। त्रिविक्रमपुर (वर्तमान तिकवाँपुर) यमुना नदी के बाएँ किनारे पर ज़िला कानपुर में अकबरपुर-बीरबल नामक मौजे से दो मील की दूरी पर बसा है। इन्हीं पंक्तियों से भूषण काश्यप-गोत्रिय त्रिपाठी ब्राह्मण भी सिद्ध होते हैं। रस चंद्रिका में भी इनको त्रिविक्रमपुर का निवासी माना गया है परंतु श्रीभगीरथप्रसाद दीक्षित का कहना है कि वास्तव में भूषण वनपुर के निवासी थे और बाद में आकर त्रिविक्रमपुर में बस गये थे।

भूषण के जन्मकाल के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। भूषण की किसी भी कृति में जन्म संवत या निधन संवत के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। 'शिवराज भूषण' में ग्रंथ की समाप्ति का निम्नांकित दोहा लिखा है :—

संवत सतरह तीस पर, सुचि बदि तेरसि भान।
भूषण शिवभूषण कियो पढ़ियो सुनो सुजान॥

काशीराज के पुस्तकालय की हस्त लिखित प्रति में यह दोहा इस प्रकार से दिया गया है। परंतु इस दोहे में पाठांतर बहुत अधिक पाया जाता है। मिश्रबंधु इस दोहे को इस प्रकार मानते हैं—

शुभ सत्रह से तीस पर, बुध सुदि तेरसि मान।
भूषण शिवभूषण कियो, पढ़ियो सुन्यो सुजान॥

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भूषण ने सं० १७३० वि० में शिवराज भूषण ग्रंथ का लिखना समाप्त किया। इसी तिथि को आधार मानकर भूषण का जन्म संवत् विद्वानों ने अनुमानित किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और मिश्रबंधु भूषण का जन्म संवत् १६७० वि० (सन् १६१३) के आसपास ही मानते हैं। श्रीभगीरथप्रसादजी दीक्षित ने 'भूषण-विमर्श' नामक एक पुस्तक लिखी है जिसमें भूषण की जीवन विषयक कुछ नए अन्वेषण का उल्लेख किया है। दीक्षितजी भूषण का जन्म संवत् १७३८ मानते हैं। ऊपर हमने शिवराज भूषण का जो दोहा उद्धृत किया है वही दोहा नवलकिशोर प्रेसवाली प्रति में इस प्रकार दिया गया है—

सम सत्रह सैंतीस पर, शुचि बदि तेरसि भान।
भूषण शिवभूषण कियो, पढ़ियौ सुनौ सुजान॥

दीक्षितजी इस दोहे में वर्णित 'सम' शब्द से दो अर्थ निकालते हैं। उनका कहना है कि पर अर्थात पश्चात् या उल्टा और शिवभूषण अर्थात देवाधिदेव महादेव। इस प्रकार उन्होंने यह अर्थ निकाला कि संवत् १७३७ विक्रमी के पश्चात् सं० १७३८ वि० में अषाढ़ बदी तेरस

रविवार को देवाधिदेव महादेव ने भूषण को जन्म दिया और शिवराज भूषण का निर्माण काल वे संवत् १७७२ वि० में मानते हैं। शिवसिंह सरोज में भी भूषण का जन्म संवत् १७३८ ही माना गया है। परंतु संवत् १७३८ को भूषण का जन्म संवत माना जाय तो फिर भूषण शिवाजी के समकालीन कवि नहीं माने जा सकते। दीक्षितजी भूषण को शिवाजी का दरबारी कवि नहीं मानते बल्कि साहू महाराज के आश्रित मानते हैं। परंतु अधिकांश लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों का मत है कि भूषण शिवाजी के समकालीन कवि थे। इधर हाल में संत तुकाराम का शिवाजी के नाम लिखा हुआ पत्र मिला है जिसमें उन्होंने शिवाजी के दरबारियों में भूषण का भी उल्लेख किया है—

पेशवे सुरनिम चिटणीस उबीर,
राजाला सुमंत सेनापति।
भूषण पंडितराय विद्याधन,
वैदराजा नमन मामे आसो॥

इस प्रकार भूषण का जन्म संवत् १६७० के लगभग ही माना जा सकता है। भूषण कवि का असली नाम नहीं है बल्कि चित्रकूट नरेश हृदयराम के पुत्र रुद्रराम सोलंकी ने इन्हें कवि भूषण की उपाधि दी और अभी तक वे इसी नाम से प्रसिद्ध भी हैं—

कुल सुलंक चित्रकूट पति, साहस सील समुद्र।
कवि भूषण पदवी दई, हृदयराम सुतरुद्र॥

किसी-किसी ने भूषण का असली नाम पतिराम माना है और कोई-कोई कन्नौज भी मानते हैं। श्रीभगीरथप्रसाद दीक्षित इनका असली नाम मनिराम मानते हैं परंतु अभी तक ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता कि भूषण का वास्तविक नाम क्या है। भूषण चार भाई थे, चिंतामणि, भूषण, मतिराम और जयशंकर (नीलकंठ)। चिंतामणि और मतिराम भी हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध कवियों में से हैं। आचार्य शुक्लजी चिंतामणि को ही रीतिकाल का सर्वप्रथम कवि मानते हैं और

मतिराम के काव्य सौंदर्य पर मुग्ध हो 'मिश्रबंधु' ने उन्हें 'हिंदी नवरत्न' में स्थान दिया है। दीक्षितजी मतिराम और भूषण को भाई-भाई नहीं मानते परंतु श्रीकृष्णबिहारी मिश्र ने 'मतिराम ग्रंथावली' की भूमिका में पुष्ट प्रमाणों सहित सिद्ध किया है कि मतिराम और भूषण सहोदरबंधु ही थे। आचार्य शुक्लजी और मिश्रबंधु भी इन्हें भाई-भाई मानते हैं।

भूषण के शिवराज भूषण, शिवाबावनी और छत्रसाल दशक नामक तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, जो प्रकाशित भी हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त कुछ स्फुट छंद भी मिलते हैं। 'शिवसिंह सरोज' में भूषण हज़ारा, भूषण उल्लास और दूषण उल्लास नामक अन्य तीन ग्रंथों का भी पता चलता है परंतु अभी तक इनका कुछ पता नहीं चला है। श्रीकालिदास त्रिवेदी ने भी भूषण हज़ारा का उल्लेख किया है।

भूषण के विषय में कुछ किंवदंतियाँ भी प्रचलित हैं।

भाषा

भूषण का भाषा पर अच्छा खासा आधिपत्य था। भावानुकूल भाषा लिखने का ही इन्होंने प्रयत्न किया है। 'गुणा माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा' नामक उक्ति के अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुण माने गए हैं जो कि भाषा-सौंदर्य की अभिवृद्धि करते हैं। वीररस के कवि होने के कारण भूषण की रचनाओं में ओज गुण की ही बाहुल्यता है परन्तु कहीं-कहीं व्रजभाषा की सुललित सुमधुर पदावली भी देख पड़ती है जहाँ कि प्रसाद गुण की झलक दृष्टिगोचर होती है—

कहुँ बावरी - सर - कूप राजत, बद्ध मनि सोपान हैं।
जहँ हंस - सारस - चक्रवाक विहार करत समान हैं॥
कितहूँ बिसाल प्रवाल जालन जटित अंगन भूमि है।
जहँ ललित बागन द्रुम लतनि मिलि रहे झिलमिल भूमि है॥

अँगारे बरसत हैं', 'गई कटि नाक सिगरेई दिल्ली दल की' जैसे कई सुंदर मुहावरों के प्रयोग से भूषण का भाषा सौंदर्य द्विगुणित हो उठा है। मुहावरों की भाँति 'सौ-सौ चूहे खाय के बिलारी बैठी तप के' की सदृश्य लोकोक्तियों का प्रयोग भी भूषण ने किया है।

भूषण ने भिन्न-भिन्न प्रांतों का देशाटन किया था। इस प्रकार उनकी भाषा में भिन्न-भिन्न प्रांतों के शब्दों का प्रयोग होना स्वाभाविक ही है। परन्तु भूषण के पूर्व ही अन्य कवियों ने भी कहीं कहीं मिली जुली भाषा का व्यवहार किया है। दास जी का कहना है कि तुलसी और गंग तक ने जो कि कवियों के शिरोमणि गिने जाते हैं, मिली जुली भाषा का व्यवहार किया है—

तुलसी गंग दुवो भए सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार॥

मुसलमानी शासन होने से देश में फारसी, अरबी तथा तुर्की भाषा के शब्दों का प्रचलन स्वाभाविक ही था। भूषण की भाषा में भी इसीलिये विदेशी शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। भूषण की भाषा में खलक, नकीब, तसबीह जैसे फारसी शब्दों की और अदली, गुसलखाने इलाज, ख्याल, जहान, मुलुक जैसे तुर्की शब्दों की बहुलता है। जहाँ जहाँ मुसलमानों के ही सम्बन्ध में भूषण ने कुछ लिखना चाहा है वहाँ तो अरबी, फारसी और तुर्की शब्दों की भरमार सी देख पड़ती है—

जसन के रोज यों जलूस गहि बैठो जोऽब।

भूषण ने जहाँ तक हो सका है, विदेशी शब्दों को उनके तत्सम रूपों में ग्रहण नहीं किया लिक उनके तद्भव रूपों का ही प्रयोग किया है जिससे वे पढ़ने में खटकते नहीं हैं। वीर गाथा कालीन शब्दों के प्रयोग भी कहीं-कहीं भूषण की भाषा में देख पड़ते हैं। पब्बय, नैर, पुहुमि जैसे वीरगाथा कालीन शब्दों का प्रयोग भूषण ने स्वच्छंदता से किया है। तुलसी की भाषा में भी कहीं-कहीं ऐसे प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। इन शब्दों का प्रयोग भाषा में ओजगुण लाने के ही हेतु

किया जाता है। मराठी, बुन्देलखण्डी, बैसवाड़ी और पूरबी प्रयोगों की झलक भी भूषण की भाषा में देख पड़ती है। कहीं-कहीं खड़ी बोली के प्रयोग भी ज्यों के त्यों देख पड़ते हैं—

शिवा की बड़ाई औ हमारी लघुताई क्यों,
कहत बार बार कहि पातसाह गरजा।

और—

अफजल खाँ को गहि जाने मयदान मारा,
बीजापुर गोलकुंडा मारा जिन आज है॥

इस प्रकार भूषण की भाषा कहीं-कहीं खिचड़ी सी देख पड़ती है। भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग करने से विदित होता है कि भूषण को अन्य भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान था। भूषण ने कहीं-कहीं शब्दों को बहुत अधिक विकृत किया है परन्तु चूंकि ऐसे स्थल ओजस्वी प्रतीत होते हैं जिससे पाठकों को कुछ खटकता नहीं है। इस प्रकार भूषण की भाषा प्रभावोत्पादक, ओजपूर्ण और प्रवाह युक्त है तथा वीर रस के अत्यंत अनुकूल है। श्री भगीरथ प्रसाद जी दीक्षित ने भूषण की भाषा के विषय में उचित ही लिखा है "उनकी भावपूर्ण रचना में वह अँगूठी में नगीने की भाँति जड़ी हुई है।"

कवित्व

रीतिकालीन कवियों ने जहाँ श्रृंगार की रसधारा प्रवाहित की है वहाँ भूषण ने वीर काव्य की रचना की है। रीतिकालीन कुछ कवियों ने अवश्य अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए उनकी झूठी प्रशंसा में आकाश-पाताल के कुलावे एक करने का प्रयत्न किया है और इस प्रकार उन्होंने जो वीर रस पूर्ण रचनाएँ लिखीं उनमें मानसिक अनुभूति न होने से वे प्रशंसनीय और प्रभावोत्पादक न हो सकीं। भूषण ने जिन वीरों की प्रशंसा की है वे राष्ट्रीय महापुरुष हैं। शिवाजी और छत्रसाल देश भक्तों की श्रेणी में हैं तथा वे देश के लिए सब कुछ न्यो-

छावर करनेवाले व्यक्तियों में थे अतएव उनकी प्रशंसा करना अनुचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार भूषण राष्ट्रीय कवि थे और देश की तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उन्होंने जनता को जाग्रत करने का प्रयत्न किया है। हिन्दू संगठन ही उनका उद्देश्य था। भूषण के काव्य पर जो यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने मुसलमानों की निंदा ही की है और इस प्रकार वे राष्ट्रीय कवि नहीं माने जा सकते। न्याय-संगत नहीं है। औरंगजेब ने बाबर, हुमायूँ और अकबर के सदृश हिंदुओं के प्रति सहानुभूति प्रगट नहीं की बल्कि उन्हें कष्ट पहुँचाया। इस प्रकार अपने हृदगत भावों को व्यक्त करते समय यदि मुसलमानों के विषय में कुछ निंदा सूचक वाक्य आ जावें तो उन्हें दोषी नहीं कहा जा सकता। साथ ही भूषण ने समस्त मुसलमानों को बुरा नहीं कहा है बल्कि बाबर और अकबर की प्रशंसा भी की है :—

> दौलत दिल्ली की पाय कहाये आलमगीर,
>
> बब्बर के अकब्बर के बिरद बिसारे तैं।

इस प्रकार भूषण वास्तव में राष्ट्रीय कवि ही थे और राष्ट्र की भलाई पहुँचाना ही उनका उद्देश्य था। पतनोन्मुख होती हुई हिंदू जाति को जाग्रत करने का उन्होंने प्रयत्न किया है, और इस प्रकार उनकी काव्यकला निस्संदेह प्रशंसनीय है।

भूषण प्रधानतः वीर रस के ही कवि थे। वीर रस का परिपाक उनकी रचनाओं में कुशलता से हुआ है तथा वीर रस की सहायता रूप में भयानक, रौद्र और अद्भुत रसों की व्यंजना की गई है। स्फुट छंदों में भूषण के एक दो शृंगार रस के भी छंद मिले हैं। भूषण ने वीर रस के अंतर्गत जहाँ अन्य रसों का वर्णन किया है वहाँ शृंगार रस का वर्णन भी वीर रस के अंतर्गत कुशलता से किया है :—

> **मेचक कवच साजि, वाहन बयारि बाजि,**
>
> **गाढ़े दल गाजि रहे दीरघ बदन के।**

भूषन भनत सबमेर सोहैं दामिनि है,
हेतु नर कामिनी के मान के कदन के ॥
पैठरि बलाका, धुरवान के पताका गहे,
घेरियत चहूँ ओर सूने ही सदन के ।
न करु निरादर, पिया सों मिलु सादर,
ये आए बीर बादर बहादुर मदन के ॥

इस प्रकार भूषण रस व्यंजना में पूर्ण पटु प्रतीत होते हैं। भूषण ने नवों रसों का वर्णन कुशलता से किया है। भूषण की वर्णन शैली भी प्रशंसनीय है। बाह्य दृश्य चित्रण भी उन्होंने किया है। रायगढ़ का वर्णन उन्होंने परंपरागत शैली पर ही किया है। भूषण ने विवरणात्मक शैली का उपयोग बहुत कम किया है और प्रायः अधिकतर विवेचनात्मक शैली को ही अपनाया है। इसका कारण यह है कि भूषण को राज-दरबारों में प्रायः कविता सुनाना पड़ता था और कवि का उद्देश्य समस्त हिंदू जाति पर प्रभाव डालकर उन्हें संगठन करने के हेतु प्रेरित करना था। ऐसे अवसरों पर विवेचनात्मक शैली ही उपयोगी सिद्ध होती है परंतु तो भी वीर रस के अंतर्गत कहीं-कहीं विवरणात्मक शैली का भी उन्होंने उपयोग किया है।

भूषण भाव व्यंजना में पूर्ण सफल रहे हैं। उन्होंने युद्ध के बाह्य साधनों का ही एक मात्र वर्णन नहीं किया है बल्कि मानसिक भावनाओं का भी चित्रण किया है। भूषण के छंद इसीलिए प्रभावोत्पादक हैं क्योंकि उनमें हृदयस्पर्शिता भी है। उन उत्तेजना और उत्साह पूर्ण भावनाओं को उन्होंने सर्वत्र ही चित्रित किया है। इस प्रकार काव्य कला की दृष्टि से भूषण का हिंदी काव्य साहित्य में अपना उच्चतम स्थान है।

—

घनानंद

परिचय

घनानंदजी जिन्हें कि 'आनंदघन' कहा जाता है, का जन्म संवत् १७४६ के लगभग हुआ था। घनआनंदजी जाति के कायस्थ थे। इनके जीवन वृत्तांत के विषय में अभी तक ठीक-ठीक कुछ भी ज्ञात न हो सका है। प्रचलित प्रवादों के अनुसार ये मुहम्मद शाह बादशाह के यहाँ मीरमुन्शी थे। घनानंदजी सुजान नामक एक वेश्या पर आसक्त थे और वे उससे इतना अधिक प्रेम करते थे कि उसकी आज्ञा पर ही चलते थे। घनआनंदजी के कुछ विरोधियों ने एक दिन बादशाह से कहा कि मीरमुन्शी गाते बहुत अच्छा हैं। बादशाह ने इनसे गाने के लिए बहुतेरा कहा परंतु इन्होंने गाया नहीं। तब उनके विरोधियों ने बादशाह से कहा कि यदि सुजान कहे तो घनानंद अभी गाने लग जावें। बादशाह ने सुजान को बुलवाया और सुजान के कहते ही घनानंदजी गाने लग गये। परंतु गाते समय घनआनंदजी ने सुजान की तरफ़ तो मुँह किया और बादशाह की ओर पीठ फेर ली। बादशाह इनके गाने पर बड़ा प्रसन्न हुआ परंतु पीठ फेरने की बेअदबी को सहन न कर सका तथा उसने उन्हें दिल्ली से बाहर निकाल दिया। घनानंद ने चलते समय सुजान से चलने को कहा परंतु वह उनके साथ नहीं आई। अब घनानंदजी वृन्दावन आए और निंबार्क सम्प्रदाय के वैष्णव हो गए। वृन्दावन पर उनका अटूट प्रेम था, यह उनकी रचनाओं से प्रगट भी होता है। निम्नांकित कवित्त देखिए—

गुरनि बतायो, राधा - मोहन हूँ गायो सदा,
सुखद सुहायो वृन्दावन गाढ़े गहि रे।

अद्भुत अभूत महि-मंडन परे तें परे,
जीवन कौ लाहु, हा हा, क्यों न ताहि लहि रे॥
आनंद कौ घन छायौ रहत निरंतर ही,
सरस सुदेय सों पपीहा-पन बहि रे।
जमुना के नीर केलि कोलाहल-भीर, ऐसी
पावन पुलिन पै पतित, पर रहि रे॥

वृन्दावन आकर भी ये सुजान को न विस्मरण कर सके। सुजान शब्द उन्हें इतना अधिक प्रिय था कि वे श्रीकृष्ण के लिए 'सुजान' शब्द का प्रयोग करने लगे।

संवत् १७९६ में नादिरशाह की सेना के सिपाही जब मथुरा तक आ पहुँचे तब उनसे किसी ने कह दिया कि वृन्दावन में बादशाह का मीर मुन्शी रहता है. उसके पास बहुत से हीरे जवाहिरात हैं इसलिए उसे जाकर क्यों नहीं लूटते ! सिपाही वृन्दावन पहुँचे और वहाँ उन्होंने घनानंद जी से कहा ज़र ज़र ज़र अर्थात् धन लाओ परन्तु घनआनंद जी ने ज़र का उल्टा अर्थ मानकर रज की तीन मुट्ठियाँ उन पर फेंक दीं। बेचारे घनआनंद जी के पास उस समय ब्रज-रज के अतिरिक्त और था भी क्या ? सिपाहियों ने क्रोधित होकर उनका एक हाथ काट डाला और वहाँ से चल दिये। कहा जाता है कि घनआनंद जी ने मरते समय अपने रुधिर से यह कवित्त लिखा—

बहुत दिनानि की अवधि आसपास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान कों।
कहि-कहि आवन छबीले मन-भावन कों,
गहि-गहि राखति ही, दै-दै सनमान कों।
झूठी बतियान की पत्यानि तें उदास ह्वै कें,
अब ना घिरात घनआनंद निदान कों।
अधर लगे हैं आनि करिकें पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसों लै सुजान कों।

इस प्रकार संवत् १७६६ में घनानंद जी का देहावसान हुआ।

घनानंद जी की सुजान सागर, विरह लीला, कृपाकांड निबंध, रस केलि बल्ली, कोकसार नामक रचनाओं का पता लगा है। इनके कुछ स्फुट कवित्त और सवैये भी उपलब्ध होते हैं। घनानंद जी की 'सुजान सागर' ब्रजभाषा की प्रसिद्ध कृतियों में है। विरह लीला की रचना ब्रजभाषा में ही की गई पर छंद फारसी के हैं।

भाषा

घनानंद की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। भाषा पर जैसा आधिपत्य घनानंद का था वैसा किसी अन्य कवि का नहीं। घनानंद ने मँजी हुई ब्रजभाषा ही लिखी है। उनकी भाषा में माधुर्यगुण सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। भाषा भावों की पूर्ण अनुगामिनी रही है तथा भावों की अभिव्यंजना में भी पूर्ण समर्थ रही है। सरल सुमधुर और भावव्यंजक भाषा का उदाहरण देखिए—

निसि द्यौस खरी उर माँझ अरी छवि रंग भरी मुरि चाहनि की।
तकि मोरनि त्यों चख ढोरि रहैं, ढरिगो हिय ढोरनि बाहनि की॥
चट दै कटि पै बट प्रान गए गति सों मति में अवगाहनि की।
घनआनंद जान लख्यो जब तें जक लागियै मोहि कराहनि की॥

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने घनआनंद की भाषा के विषय में लिखा है—"भाषा मानों इनके हृदय के साथ जुड़कर ऐसी वशवर्त्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भावभंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे। × × × × भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से काम न चलाकर इन्होंने उसे अपनी ओर से शक्ति प्रदान की है। घनानंदजी उन विरले कवियों में हैं जो भाषा व्यंजकता बढ़ाते हैं।। अपनी भावनाओं के अनूठे रूपरंग की व्यंजना के लिये भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करनेवाला हिंदी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।"

घनानंद की भाषा में अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। अनुप्रास, उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा का प्रयोग इन्होंने सफलता से किया है। रूपकातिशयोक्ति और यमक के भी उदाहरण इनकी भाषा में मिलते हैं। घनआनंद ने मुहाविरेबंदिश भी की है और मुहावरों के प्रयोग से भाषा सौंदर्य निखर सा उठा है:—

पहिले अपनाय सुजान सनेह सों,
क्यों फिर नेह को तोरिये जू।
निरधार अधार दै धार मँझार,
दई गहि बाँह न बोरिये जू॥
घनआनंद आपने चातक कों,
गुन बाँधिलै मोह न छोरिए जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कैं आस,
बिसास में यों बिष घोरिये जू।

और भी—

तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला,
मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।

ब्रज भाषा में मुहावरों का इतनी सफलता के साथ प्रयोग बहुत कम कवि कर सके हैं। घनानंद की भाषा में शब्द झंकृति भी पाई जाती है। शब्द योजना इतनी कुशलता से की गई है कि कहीं-कहीं शब्दों से ध्वनि सी निकलती है।

घनानंद की भाषा की प्रमुख विशेषता लाक्षणिकता है। ब्रजभाषा म घनानंद के पूर्व अन्य किसी कवि की भाषा में इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होते। बिहारी ने अपने दोहों में अवश्य कहीं-कहीं लाक्षणिकता लाने का प्रयत्न किया है:—

दृग उरझत, टूटत, कुटुम, जुरत चतुर चितप्रीति।
परति गाँठ दुरजन-हियैं, दई नई यह रीति॥

परंतु विहारी सतसई में इस प्रकार के दोहों की संख्या बहुत कम है। घनानंद की भाषा में लाक्षणिक प्रयोगों की अधिकता सी है। एक उदाहरण देखिए :—

रूप उजियार जान प्रानन के प्यारे कब,
करौगे जुन्हैया दैया बिरह महा तमैं।
सुखद सुधा सी हँसि हेरनि पिनाइ पिय,
जियहि जिवाइ मारिहौ उदेग सेज मैं॥
सुंदर सुदेस आँखैं बहुर्यौ बसाय आय,
बसिहौ छबीले जैसें हुलसि हिएँ रमैं।
ह्वै है सोऊ घरी भाग उघरी अनंद घन,
सुरस बरसि लाल देखिहौ हरी हमैं॥

घनआनंद की भाषा में लाक्षणिकता के साथ-साथ विरोध मूलक वैचित्र्य भी स्थान-स्थान पर देख पड़ता है। घनआनंद की भाषा में विकृत शब्दों और व्याकरण की अशुद्धियों की न्यूनता है और प्राय: सर्वत्र ही इनकी भाषा लालित्यपूर्ण है और प्रवाहमय है।

काव्य-सुषमा

'शिवसिंह-सरोज' में घनआनंद की कविता के परिचय में लिखा है :—

नेही महा, ब्रजभाषा-प्रवीन औ, सुंदरताइ के भेद को जानै।
आगे वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद, स्वरूप कों ठानै॥
चाह के रंग में भीज्यो हियो, बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै।
भाषा-प्रबीन, सुछंद सदा रहै, सो घनजू के कवित्त बखानै॥

घनानंद के काव्य में प्रेम वर्णन ही विशेष रूप से है। विरह व्यथित घनआनंद ने अपने विरह को ही वाणी द्वारा व्यक्त किया है। सुजान ने इन्हें छोड़ दिया परंतु इन्होंने सुजान को आजीवन नहीं छोड़ा और अपने काव्य में बराबर सुजान को ही संबोधित किया है। घनानंद की

कविताएँ श्रृंगार और भक्ति दो विषयों में विभाजित की जा सकती हैं। भक्ति विषयक छंदों में सुजान शब्द श्रीकृष्ण के लिए और श्रृंगार विषयक रचनाओं में नायक के लिए प्रयोग किया गया है।

'श्रृंगार प्रकाश' में श्रृंगार रस का महत्त्व इस प्रकार लिखा गया है :—

वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः,
सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति ;
लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता—
मेवतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः ।
श्रृंगार वीर करुणाद्भुत हास्य रौद्र—
वीभत्सवत्सल भयानक शांत नाम्नः ;
आम्नासिपुर्दशरसान् सुधियो वयन्तु,
श्रृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः ॥

घनआनंद की कविताओं में श्रृंगार वर्णन की ही बाहुल्यता है। प्रेम तत्व का निरूपण करने का ही प्रयास घनानंद ने किया है। संयोग के बजाय वियोग श्रृंगार का ही वर्णन इन्होंने अधिक किया है। विप्रलंभ श्रृंगार के वर्णन में उन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। हृदयस्पर्शी भाव-व्यंजना ही इन्होंने की है। घनानंद ने बाह्य दशा का निरूपण नहीं किया है बल्कि अंतर्दशाओं का ही अधिकतर वर्णन उन्होंने किया है। यही कारण है कि उनकी विरहपूर्ण कविताएँ अत्याधिक प्रसिद्ध हैं। रीतिकालीन कवियों ने प्रायः अंतर्दशा का वर्णन बहुत कम किया है। बिहारी की भाँति विरहताप के वर्णन में घनानंद ने बाह्य दशा पर ही दृष्टि नहीं डाली है। इनके वियोग वर्णन में भावों की गंभीरता दृष्टिगोचर होती है। बाहर से उनका विरह शांत प्रतीत होता है पर हृदय की स्वाभाविक भावनाओं को उन्होंने मूर्तिमान रूप प्रदान किया है। भवभूति ने जिस सच्चे प्रेम की परिभाषा की है वह घनआनंद की कविताओं में ही सत्य प्रमाणित होता है :—

अद्वैत सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेह सारे स्थितं,
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥

ऐसा मर्मस्पर्शी विरह वर्णन ब्रजभाषा के बहुत कवि कर सके हैं। घनानंद के प्रेम वर्णन की उत्कृष्टता को देखते हुए उचित ही लिखा गया है—

समुझै कविता घनआनंद की हिय आँखिन नेह की पीर तकी।

विरह व्यथित मानस के उद्‌गार देखिये—

जिनकों नित नीके निहारत हीं,
तिनको अँखियाँ अब रोवति हैं।
पल पाँवड़े पाइनि चाइनि सों,
अँसुवानि की धारनि धोवति हैं ॥
घनआनंद जान सजीवनि कों,
सपने बिन पायेइ खोवति हैं।
न खुली-मुँदी जानि परैं, दुख ये,
कछु हाइ जगे पर सोवति हैं ॥

घनानंद की कविताओं में नायिका भेद के भी उदाहरण मिल सकते हैं परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि नायिका भेद का वर्णन ही उनका उद्देश्य न था। रीतिकालीन कवियों के सदृश्य सौंदर्य और प्रेम उनकी कविता के भी प्रधान विषय रहे परंतु उन्होंने अश्लील और वासना मूलक रचनाएँ नहीं लिखीं। कहीं कहीं कृष्ण का रूपवर्णन भी उन्होंने कलापूर्ण किया है। उद्दीपन की दृष्टि से प्रकृति वर्णन भी किया गया है और वर्षा वर्णन मनोरम सा बन पड़ा है। बाँसुरी के विषय में भी इन्होंने बड़े सुंदर छन्द लिखे हैं।

लौकिक प्रेम के उपरांत ही भगवत्प्रेम की ओर ये आकर्षित हुए थे। इस प्रकार लौकिक प्रेम के तो उदाहरण इनकी कविता में मिलते

ही हैं पर भगवत्प्रेम के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम है। इन्होंने कवित्त और सवैया छंद ही विशेष रूप से अपनाए हैं परन्तु सवैया लिखने में इन्हें अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है।

इनकी सी भावपूर्ण, हृदयस्पर्शी, अंतः प्रकृति पर्यवेक्षणी कविताएँ बहुत कम कवियों ने लिखी हैं। वास्तव में घनानंद ब्रजभाषा के अमर कवियों में हैं तथा 'शिवसिंह सरोज' में उचित ही लिखा है—"इनकी कविता सूर्य के समान भासमान है।"

देव

परिचय

देव का पूरा नाम देवदत्त था और 'देव' उनका उपनाम था। प्रायः उन्होंने स्वयं ही अपने ग्रन्थों में अंत में अपना नाम देवदत्त लिखा भी है। देव ने स्वयं अपने आप को धौसरिया ब्राह्मण कहा है, जैसा कि भावविलास के इस दोहे से विदित भी होता है—

धौसरिया कवि देव को, नगर इटायो बास।

कुछ दिनों तक देव सनाढ्य ब्राह्मण माने जाते रहे और शुक्ल जी जैसे विद्वानों ने भी इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण ही माना है परन्तु खोज से पता चल गया है कि ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। देव के प्रपौत्र भोगी लाल ने स्वयं को काश्यपगोत्री द्विवेदी कान्यकुब्ज माना है, इस प्रकार देव भी काश्यपगोत्री द्विवेदी कान्यकुब्ज ब्राह्मण माने जावेंगे। धौसरिया वास्तव में दुसरिहा का रूपान्तर है जो कि देवसर या देवसरिया में 'हा' प्रत्यय लगने से बना है। इटावा में अभी भी देवसर या दुसरिहा ब्राह्मण पाये जाते हैं, जो कि कान्यकुब्ज ब्राह्मण ही हैं।

देव का जन्म संवत् १७३० वि० में हुआ था। १६ वर्ष की अवस्था में उन्होंने भावविलास की रचना की थी—

शुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
कढ़ी देत मुख देवता, भावविलास सहर्ष॥

देव के पूर्वजों के विषय में ठीक-ठीक कुछ ज्ञात न हो सका है। कहते हैं देव के वंशज पं० मातादीन दुबे के पास देव का वंशवृक्ष है जिसके आधार पर देव के पिता पं० बिहारीलाल दुबे माने जा सकते

है। 'शिवसिंह सरोज' में देव का निवास स्थान जिला मैनपुरी समनि गाँव में लिखा है परन्तु वास्तव में देव इटावा में ही रहते थे। २६ या ३० वर्ष की अवस्था में देव कुसमरा चले आए जो इटावा से ३० मील दूर है और फिर जीवन के अंत तक वे कुसमरा में ही रहे।

देव को अपने जीवन में कोई अच्छा आश्रयदाता न मिला और इस प्रकार आश्रयदाता की खोज में उन्हें भारत के प्रत्येक प्रदेश में घूमना पड़ा। प्रांत-प्रांत में इस प्रकार घूमने से देव को बड़ा अनुभव प्राप्त हुआ जिसके फलस्वरूप उन्होंने 'जातिविलास' जैसे उत्कृष्ट ग्रंथ की रचना की। भवानीदत्त वैश्य, कुशलसिंह, राजा उदोतसिंह, भोगी लाल पिहानी वाले, अकबरअली खाँ आदि के आश्रय में देव रहे परन्तु भोगीलाल के अतिरिक्त कोई भी इन्हें मनलायक न मिला। भोगीलाल की इन्होंने अत्याधिक प्रशंसा की है जिससे पता चलता है कि भोगीलाल ने इनका उचित सम्मान किया था:—

भोगीलाल भूप लाख पाखर लिवैया,
जिन लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।

देव का निधन संवत १८२४-२५ के लगभग हुआ। देव के ग्रन्थों की संख्या किसी ने ७२ और किसी ने ५२ मानी है परन्तु बीस-पचीस से अधिक इनके ग्रंथों का पता नहीं चलता—(१) भावविलास (२) अष्टयाम (३) भवानी विलास (४) कुशल विलास (५) जाति विलास (६) रस विलास (७) शिवाष्टक (८) प्रेम तरंग (९) राग रत्नाकर (१०) देव चरित्र (११) प्रेम चन्द्रिका (१२) सुजान विनोद (१३) शब्द रसायन (१४) देव माया प्रपंच नाटक (१५) जगद्दर्शन पचीसी (१६) आत्मदर्शन पचीसी (१७) तत्त्वदर्शन पचीसी (१८) प्रेम पचीसी (१९) सुख सागर तरंग (२०) सुंदरी सिंदूर तथा इनके अतिरिक्त पावस विलास, नीति-शतक, सुमिल विनोद, रसानन्द लहरी, प्रेम दीपिका और नखशिख नामक ग्रंथ भी इन्हीं के कहे जाते हैं।

भाषा

देव की भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है। देव का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। देव की भाषा का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि देव संस्कृत के विद्वान थे। भाषा सौंदर्य की अभिवृद्धि के हेतु देव ने संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। दीप्ति, चामीकर, वृन्दारक जैसे संस्कृत के तत्सम शब्दों की देव की भाषा में बाहुल्यता-सी है परन्तु देव ने अप्रचलित दुरूह संस्कृत-तत्सम शब्दों को प्रायः ग्रहण नहीं किया है और इस प्रकार भाषा सौंदर्य का ह्रास न हो सका।

देव की भाषा में माधुर्य गुण की अधिकता है और सर्वत्र ही सुमधुर पदावली देख पड़ती है। देव की भाषा में शब्द झंकृति के उदाहरण भी मिलते हैं। सरल, सुमधुर भाषा का यह एक उदाहरण देखिए जिसके शब्दों से झंकार सी उत्पन्न हो रही है :—

शहर-शहर सोंधो शीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरि कै घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो देव,
छहर - छहर छोटी बूंदन छहरिया॥
हहर - हहर हँसि - हँसि के हिंडोरें चढ़ीं,
थहर - थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर - फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर लहर होत प्यारी की लहरिया॥

देव का शब्द चयन बड़ा ही सुंदर था। सर्वत्र ही भावानुकूल शब्द योजना उन्होंने की है। देव की भाषा में अलंकारों का स्वभाविक प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त कवित्त में अनुप्रास का सुंदर स्वाभाविक प्रयोग है। देव ने उपमाओं का प्रयोग अधिकाधिक किया है :—

आरसी-से अंबर में आभा सी उज्यारी लगै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिंब-सो लगत चंद।

उपमा के अतिरिक्त यमक, रूपक और वीर का भी प्रयोग हुआ है। देव की भाषा में लोकोक्तियों, कहावतों और मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है। 'कालिंद के जोगी कलींदे को खप्पर' जैसी लोकोक्तियों और 'ओस की आस बुझै नहिं प्यास, बिसास डसै जनि काल-फनिंद के' जैसी कहावतों का स्वाभाविक प्रयोग देवजी ने किया है। देव की भाषा में मुहावरे घुलमिल से गये हैं और इस प्रकार उनकी भाषा निखर सी उठी है। देव के लाक्षणिक प्रयोग भी प्रशंसनीय हैं। देव की भाषा में अरबी फारसी के शब्द भी अधिक नहीं देख पड़ते। "मिश्रबंधु" ने उनकी भाषा के विषय में उचित ही लिखा है— "प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ व्यक्ति, समाधि, कांति और उदारता नामक गुण देव की रचना में पाए जाते हैं। कहीं-कहीं ओज का भी चमत्कार है। पर्यायोक्ति, सुघमिता, सुशब्दता, संक्षिप्त, प्रसन्नतादि गुणों की भी आपकी रचना में बहार है।"

व्याकरण की दृष्टि से देव की भाषा अवश्य दोषयुक्त मानी जा ...ी है। लिंग दोष, कारक चिन्हों और क्रियारूपों की गड़बड़ आदि दोष देव की भाषा में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। तुकांत के लिए कहीं-कहीं तो इन्होंने मनगढ़ंत शब्द रखे हैं और कहीं-कहीं बुरी तरह शब्दों को तोड़ा मरोड़ा है। न्यून पदत्व अधिक पदत्व नामक दोष भी इनकी भाषा में है। कहीं-कहीं वाक्य विन्यास की शिथिलता भी है। परन्तु इतना सब होते हुए भी देव की भाषा अत्याधिक आकर्षक और सुहावनी है। उनका भाषा सौंदर्य निखरा हुआ प्रतीत होता है। डा० नगेंद्र के शब्दानुसार "उन्होंने ब्रजभाषा के माधुर्य्य और संगीत की अपूर्व श्री वृद्धि की है, उसको औज्ज्वल्य एवं कांति आदि गुणों से अलंकृत किया है तथा उसकी शक्तियों का संवर्धन किया है—और इस प्रकार ब्रजभाषा की पूर्ण समृद्धि का श्रेय निस्संदेह ही उनको दिया जा सकता है।"

कवित्व

देव रीतिकाल के प्रशंसनीय कवियों में से हैं। सौंदर्य और प्रेम का चित्रण करने में उन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। नारी सौंदर्य का उन्होंने बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण किया है। नखशिख वर्णन भी कलापूर्ण है। 'जाति विलास' में उन्होंने भिन्न-भिन्न जातियों की नारियों का रम्य चित्रण किया है। देव का विभाव चित्रण बड़ा ही कलापूर्ण था। देव ने कई स्थलों पर ऐसी कलापूर्ण भावव्यंजना की है कि पढ़ते ही चित्र सा नेत्रों के सम्मुख खिंच जाता है। पद्माकर और बिहारी की रचनाओं में भी भावमूर्ति-विधायिनी-कला देख पड़ती है परंतु देव की कृतियों में इसकी अधिकता है। विभाव-चित्रण का एक उदाहरण देखिए :—

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई देव,
श्रीफल उरोज आभा आभासै अधिक-सो।
छूटी अलकनि झलकनि जलकननि की,
बिना बेंदी बंदन बदन सोभा बिकसी॥
तजि-तजि कुंज जेहि ऊपर मधुप पुंज,
गुंजरत मंजुख बोलै बाल पिक सी।
नैननि हँसाइ नेकु नीबी उकसाइ, हँसि,
ससि मुखि सकुचि, सरोवर ते निकसी॥

देव का प्रकृति वर्णन भी उत्कृष्ट है। सेनापति के उपरांत देव का ही ऋतु वर्णन श्रेष्ठ कहा जा सकता है। कल्पना और भावुकता का मनोहारी संगम उनके ऋतु वर्णन में दृष्टिगोचर होता है।

सौंदर्य वर्णन के सदृश्य प्रेम वर्णन में भी वे पूर्ण सफल रहे हैं। मिश्रबंधु ने इनके प्रेम वर्णन के विषय में लिखा है—"इन कविरत्न ने प्रेम के तत्त्व, गंभीरता, महत्त्व, निःस्वार्थ भाव, तल्लीनता, चाह आदि के परमोत्कृष्ट चित्र खींचे हैं। प्रेमीजन प्रेम पात्र के लिये समस्त

संसार को कैसे और क्यों तृणवत् छोड़ देते हैं, इसका प्रत्यक्ष वर्णन यहाँ प्रस्तुत है। देव ने विषयानंद को तुच्छ कहकर ऊँचे प्रेम का वर्णन किया है। विषयजन्य प्रेम को आप फीका और पोच समझते थे। शृंगार का प्राधान्य रखकर भी आपने अपनी रचना में विषयजन्य प्रेम का कथन कम किया है।" देव ने मानसिक अवस्था का बड़ा सुंदर चित्रण किया है। प्रेम वर्णन का एक उदाहरण देखिए :—

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो,
तामें तीनों लोक बूड़ि गए एक संग में।
कारे-कारे आखर लिखे जु कारे कागद,
सुन्यारे करि बाँचे कौन जाँचै चितभंग मैं॥
आँखिन में तिमिर अमावस की रैनि जिमि,
जंबूनद बुंद जमुना जल तरंग में।
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग में॥

देव रसव्यंजना में भी सफल रहे हैं। शृंगाररस का वर्णन तो उन्होंने कुशलता से किया ही है पर वैराग्यपूर्ण चित्र भी उनकी कृतियों में देख पड़ते हैं। वैराग्यपूर्ण चित्रों में शांत रस की व्यंजना तो है ही पर हृदयस्पर्शी भावव्यंजना भी है। देव की भक्ति भावना पूर्ण सूक्तियाँ भी सराहनीय हैं। बहुदर्शिता भी उनकी कृतियों में दृष्टिगोचर होती है।

देव कवि के साथ साथ आचार्य के रूप में भी सामने आते हैं। छल को उन्होंने एक नूतन संचारी भाव माना है। शब्द रसायन में उनका आचार्यत्व देख पड़ता है। सत्य कहा जाय तो व्रजभाषा के किसी भी कवि को आचार्य माना नहीं जा सकता क्योंकि उन सबों ने संस्कृत ग्रंथों का ही आश्रय लिया है। इस प्रकार देव को प्रधानतः कवि ही माना जावेगा यद्यपि उन्होंने आचार्यत्व दिखलाने का भी प्रयास किया है।

देव ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को भी अपनाया है परंतु अपनी प्रतिभा के बल पर उन्हें सर्वथा नूतन रूप में प्रगट किया है। पद्माकर के सदृश्य वे अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को नवीन रूप में प्रस्तुत करने में असफल नहीं रहे। साथ ही मौलिक भावों की भी देव की कृतियों में अधिकता है तथा देव के परवर्ती कवियों ने देव के भावों को अधिकाधिक अपनाया भी है।

इस प्रकार देव हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध कवियों में हैं और उनकी सी काव्य सुषमा बहुत कम कवियों की रचनाओं में देख पड़ती है।

पद्माकर

परिचय

पद्माकर तैलंग ब्राह्मण थे। पद्माकर के पिता का नाम मोहनलाल भट्ट था जो कि संस्कृत और भाषा के प्रकांड विद्वान थे। मोहनलाल भट्ट नागपुर के महाराज रघुनाथराव अप्पा साहब के यहाँ रहे और फिर वहाँ से पन्ना नरेश तथा फिर जयपुर नरेश महाराज प्रतापसिंह के यहाँ जाकर रहे। पद्माकर का जन्म संवत १८१० वि० में हुआ था। इनका जन्म स्थान किसी ने बाँदा, किसी ने सागर और किसी ने मथुरा लिखा है। पद्माकर ने अपने पिता की भाँति संस्कृत और भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। सर्वप्रथम इन्हें 'सुगरा' (कुल पहाड़ बुन्देलखंड) निवासी नोने अर्जुनसिंह ने मंत्र गुरु बनाया। तब से लेकर अभी तक इन्हीं के वंशधर नोने अर्जुनसिंह के कुल के मंत्र गुरु बनते चले आ रहे हैं। संवत १८४९ में पद्माकर गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर के यहाँ गये। पद्माकर ने इनके नाम पर वीररस पूर्ण 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' की रचना की। संवत १८५६ में पद्माकर रघुनाथ राव के यहाँ गये जहाँ कि राजसभा में उन्होंने यह कवित्त सुनाया :—

संपति सुमेर की कुबेर की जु पावे ताहिं,
तुरत लुटावै बिलंब उर धारै ना।
कहै पदमाकर सुहेम हय हाथिन के,
हलके हजारन को वितर बिचारै ना॥
गंज गज बकस महीप रघुनाथ राव,
याही गज धोखे कहूँ काहु देइ डारै ना।

याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही,
गिरि तैं, गरे तैं, निज गोद तैं, उतारै ना ॥

रघुनाथ राव ने पद्माकर को पुरस्कार में एक हाथी, एक लाख रुपया और दस गाँव दिए। वहाँ से पद्माकर संवत् १८५८ में जयपुर नरेश प्रतापसिंह की राजसभा में पहुँचे। प्रतापसिंह ने इन्हें अपना राजकवि बनाया परंतु संवत् १८६० में प्रतापसिंह का स्वर्गवास हो गया और श्रावण शुक्ल १४ संवत् १८६० में महाराज जगतसिंह राजगद्दी पर बैठे। इन्होंने भी पद्माकर को अपना राजकवि बनाया और अपने पिता से बढ़कर आदर सत्कार किया। पद्माकर ने उन्हीं के नाम पर जगद्विनोद की रचना की है और कहते हैं जयपुर में ही इन्होंने दोहों में 'पद्माभरण' नामक अलंकार का ग्रंथ बनाया। संवत् १८७५ में जगतसिंह का स्वर्गवास हो जाने पर वे ग्वालियर के महाराज दौलत राव सेंधिया की राजसभा में गए। कहते हैं, वहाँ सरदार ऊदा जी के कहने पर इन्होंने संस्कृत के हितोपदेश का भाषानुवाद किया। पद्माकर एक बार उदयपुर के महाराणा भीमसिंह के दरबार में भी गए थे और वहाँ भी इनका बड़ा सम्मान हुआ।

पद्माकर का अंतिम काल बड़े ही कष्ट में व्यतीत हुआ। कहते हैं, किसी सुनारिन से अनुचित संबंध हो जाने के कारण इन्हें कुष्ट रोग हो गया था। अपने इन कष्टपूर्ण दिनों में इन्होंने प्रबोध पचासा और रामरसायन की रचना की। अंतिम समय निकट जान पद्माकर कानपुर चले आए और गंगा तट के समीप रहने लगे। 'गंगा लहरी' का सृजन कानपुर में ही इन्हीं दिनों हुआ और ये कुष्ट रोग से भी मुक्त हो गए। सात वर्ष तक ये कानपुर रहे तथा ८० वर्ष की आयु में संवत् १८६० में गंगा तट पर पद्माकर का देहावसान हुआ। पद्माकर के मिहीलाल और अंबुज नामक दो पुत्र थे।

पद्माकर ने हिम्मत बहादुर विरुदावली, जगद्विनोद, पद्माभरण, जयसिंह-विरुदावली, आलीजाह प्रकाश, हितोपदेश, राम रसायन,

प्रबोध पचासा और गंगालहरी नामक नौ ग्रंथों की रचना की है। राम रसायन दोहे चौपाइयों में लिखा गया है जो एक प्रकार से वाल्मीकि रामायण का अनुवाद सा है। किसी-किसी का यह भी मत है कि रामरसायन इनका लिखा हुआ नहीं है।

भाषा

यों तो रीति काल में हमें ब्रजभाषा का परिमार्जित रूप अवश्य प्राप्त होता है परन्तु साथ ही उसमें व्याकरण की अशुद्धियाँ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। वाक्य रचना तो बहुत थोड़े से कवियों की सुव्यवस्थित पाई जाती है। भाषा की गड़बड़ी का प्रमुख कारण ब्रज और अवधी का संमिश्रित रूप काव्य में प्रकट करना भी है। यह हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि एक सामान्य साहित्यिक भाषा अपने किसी प्रदेश विशेष के प्रयोगों तक ही सीमित नहीं रह सकती, उसमें दूसरे प्रदेश की भाषाओं का प्रभाव अवश्य पड़ेगा, पर कम से कम ढाँचे में तो परिवर्तन न होना चाहिए। रीतिकालीन ग्रंथों पर अवधी की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। मिश्रित भाषा के विषय में दास जी का मत है :—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रगट जु होइ॥
ब्रज मागधी मिलै अगर नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हूँ मिलै, षट विधि कहत बखानि॥

इस प्रकार ब्रजभाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द तो आये ही, पर साथ ही दूसरी भाषा के कारक चिन्हों और क्रिया के रूपों का भी कवियों ने स्वेच्छानुसार व्यवहार किया। उदाहरणार्थ 'करता' के भूतकाल के लिए कवियों ने 'कियो', 'करयो', 'कीनो', 'कीन', बल्कि 'किय' तक का प्रयोग किया। इससे भाषा को वह स्थिरता न प्राप्त हो सकी जो कि एक साहित्यिक भाषा के लिए आवश्यकीय थी।

पद्माकर का रीतिकालीन कवियों में विशिष्ट स्थान है। इन्होंने ब्रजभाषा में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और ब्रजभाषा की जो श्री वृद्धि की है वह किसी से छिपी नहीं है। पद्माकर उत्तम भाषा का प्रयोग करने में सिद्धहस्त थे। उन्होंने भावों के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग किया है और इसलिए कहीं-कहीं वे बड़े सुंदर-सुंदर चित्र प्रस्तुत कर सके हैं। सरल, मधुर और प्रचलित शब्दों का चयन वे बड़ी ही बुद्धिमत्ता से करते थे। वाक्य विन्यास भी सहज और आकर्षक होता था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पद्माकर की भाषा के सम्बंध में लिखा है—"भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इनका अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर, पदावली द्वारा एक सजीव भाव भरी प्रेम मूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रूप की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रास की मिलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशांत सरोवर के सामने स्थिर और गंभीर होकर मनुष्य जीवन की विश्रान्ति की छाया दिखाती है। सारांश यह कि इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदासजी में दिखाई पड़ती है।"

पद्माकर ने लाक्षणिक शब्दों का भी प्रयोग किया है और अव्यक्त होनेवाली कई भावनाओं को ऐसा मूर्तिमान रूप दिया है कि उनकी लाक्षणिकता की प्रशंसा मुक्तकंठ से करनी ही पड़ती है इनके वर्णनात्मक कवित्तों में अनुप्रास की दीर्घ शृंखला भी दृष्टिगोचर होती है। वास्तव में पद्माकर की भाषा दीपमालिका के समान समुज्वल और जगमगाती हुई है। भाषा सौंदर्य का एक उदाहरण देखिए :—

आरस सों आरत, सँभारत न सीस पट,
गजब गुजारति गरीबन की धार पर।
कहैं पदमाकर सुगंध सरसावै सुचि,
बिथुरि बिरजै बार हीरन के हार पर॥

छाजत छबीली छिति छाहरि छरा की छोर,
भोर उठि आई केलि मंदिर के द्वार पर।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज एक कर है किवार पर॥

पद्माकर की भाषा में अनुप्रास के अतिरिक्त उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग किया गया है। मुहावरों, कहावतों और लोकोक्तियों का भी अत्याधिक उपयोग किया गया है। कुछ उदाहरण देखिए :—

'प्रीति - पयोनिधि में धँसि क,
हँसि के कढ़िबो हँसि खेल नहीं है।'
'अब हाथ के कंगन को कहा आरसी,
तन जोबन हैं धनकी परछाहीं॥'

रीतिकालीन ब्रजभाषा में पाए जानेवाले जिन दोषों का उल्लेख अभी-अभी हमने किया है, पद्माकर की भाषा भी सर्वथा इनसे रहित नहीं है। पद्माकर में शब्द चमत्कार प्रकट करने की और अनुप्रास लाने की प्रवृत्ति विद्यमान थी; अतएव कहीं-कहीं उनकी भाषा इतनी अधिक सदोष हो गई है कि ऐसा प्रतीत होता है कि मानों कवि भाषा के साथ खिलवाड़ कर रहा हो। अनुचित अनुप्रासों के बोझ से भाषा को शिथिल कर देना पद्माकर जैसे सत्कवि के लिए उचित न था। कुछ उदाहरण देखिए :—

(१) गूंदि गेंदे गुलगज गौहरन गंजगुल,
गुपत गुलाबी गुलगजरें गुलाब पास।
खाले खसबीजन सु पौन पौनखाने खुले,
खस के खजाने खसखाने खूब खास-खास॥

(२) झुकि-झुकि, झूमि-झूमि, झिल-झिल-झेल-झेल,
झरहरी झाँपन में झमकि-झमकि उठै।

(३) कहै पद्माकर फराकत फरस बंद,
फहरि फुहारनि की फरस फबी है फाब।
गोल गुल गादी गुल गिलमैं गुलाब गुल,
गजक गुलाबी गुल गिंदुक गुले गुलाब॥

इस प्रकार के उदाहरणों की पद्माकर की कृतियों में बाहुल्यता सी है। 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' में तो पद्माकर ने इनकी अति सी कर दी है। कोई भी सहृदय इस प्रकार से अनुप्रासों के फेर में पड़कर भाषा को विकृत करना पसंद न करेंगे। कहीं-कहीं भाषा में ओज लाने के लिए उन्होंने शब्दों को शुद्ध रूप में न लिखकर कृत्रिम रूप में लिखा है। परंतु ऐसा करने से भाषा अस्वाभाविक सी हो गई है:—

तुपक्कैं तड़क्कैं धड़क्कैं महा हैं,
भले चिल्लिका सी भड़क्कैं जहाँ हैं।
खड़क्कै खरी बैरि छाती भड़क्कै,
लड़क्कैं गए सिंधु मज्जै गड़क्कैं॥

कवि निरंकुशता के फलस्वरूप भी पद्माकर की भाषा दोषमय हो गई है। यों तो प्रायः प्राचीन सभी कवियों ने शब्दों के रूपों में मनमाना परिवर्तन कर दिया है; पर इतना नहीं। पद्माकर ने तो शब्दों को बहुत ही अधिक विकृत किया है जिससे कहीं-कहीं अर्थ का अनर्थ भी हो गया है। कुछ उदाहरण देखिए:—

(१) कहै पद्माकर नयल में विश्राम सों,
सरोजने के दामसों जो सरद समंत में।
(२) कहै पद्माकर परागन मैं पौन हूँ मैं,
पानन में पीक मैं पलाशन पगंत हैं।
(३) रूप के गुमान तिल उत्तमा न आनै उर,
आनन निकाई पाई चंद्र किरनै नहीं।

(४) ये अलि या बलि के अधरान में आनि चढ़ी कछु माधुरई सी।
ज्यों ज्यों कुछ त्यों ही नितंब चढ़ै, कुछ ज्यों ही नितंब त्यों चातुरई-सी॥

उपर्युक्त अंशों द्वारा स्पष्ट है कि पद्माकर की कविता में शब्द कितने बेढंगे तरीके में तोड़े-मरोड़े गये हैं। हिमंत के अनुप्रास के हेतु समय को समंत कर दिया गया, माधुरी-मधुराई के लिये मधुरई ; चातुरी-चतुराई के लिए चातुरई का प्रयोग किया गया। गुप्त के लिए गुपति, रंगमेजी के लिए रंगन-अमेजे और दवात के लिए दोत का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार शब्दों को विकृत करने की कदाचित पद्माकर को आदत सी थी। पद्माकर की भाषा में फ़ारसी-अरबी और तुर्की शब्दों की बाहुल्यता है। खसबोयन सरीखे फ़ारसी शब्दों को भी पद्माकर ने निस्संकोच अपनाया है।

पद्माकर भाषा मर्मज्ञ थे, तथा कहीं-कहीं उन्होंने भाषा सौंदर्य के सुंदर-सुंदर चित्र प्रस्तुत किए हैं परंतु उनकी कविता में ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं है जोकि हमारे इस कथन के अपवाद स्वरूप हैं। यदि पद्माकर की भाषा में ये दोष न होते तो निश्चय ही उनकी भाषा सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती थी परंतु फिर भी उसे प्रशंसनीय तो मानना ही होगा। वास्तव में व्रजभाषा के कवियों में पद्माकर का आदरणीय स्थान है।

काव्य-सौंदर्य

पद्माकर ने भी रीतिकालीन परिपाटी को ग्रहण किया है और इस प्रकार सौंदर्य तथा प्रेम ही उनके काव्य के प्रमुख विषय हैं। पद्माकर ने सौंदर्य वर्णन सफलता से किया है। वाह्यसौंदर्य के अंतर्गत उन्होंने नारी सौंदर्य का चित्रण कलापूर्ण ढंग से किया है। नारी सौंदर्य का चित्रण करते समय पद्माकर ने अपनी सौंदर्यानुभूति को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान किया है। नखशिख वर्णन अलंकार पूर्ण और हृदयग्राही है।

पद्माकर शृंगार रस की अभिव्यंजना में सिद्ध हस्त प्रतीत होते हैं। प्रेम के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का उन्होंने मनोहारी वर्णन

किया है। हृदगत भावनाओं का वर्णन कुशलता से किया है। विरह व्यतीत गोपियों के उद्गार देखिए :—

आनन के प्यारे तन ताप के हरन हारे,
नंद के दुलारे ब्रजवारे उमहत हैं।
कहे पद्माकर उरझे उर अंबर यों,
अंतर चहै हूजे न अंतर चहत हैं॥
नैननि बसे हैं अंग-अंग हुलसे हैं, रोम,
रोमनि रसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
ऊधौ वै गोविंद कोई और मथुरा में यहाँ,
मेरे तो गोविंद मोहिं-मोहिं में रहत हैं।

इस प्रकार का सुंदर सजीव चित्रण पद्माकर के कई कवित्तों में देख पड़ता है ; जिनमें भावों की गंभीरता के साथ-साथ मधुर कल्पना का स्पंदन भी है। पद्माकर में मानस की स्वाभाविक प्रेरणा भी थी केवल ऊहा के बल पर वे अपनी लेखनी का जौहर दिखानेवाले कवियों में से न थे। पद्माकर की भावमूर्ति विधायनी कल्पना भी सराहनीय है।

पद्माकर की मर्मस्पर्शी भाव व्यंजना उनके भक्तिपूर्ण कवित्तों में देख पड़ती है। अपने हृदयोद्गारों को अपने हृदय की भावना को कवि ने बड़ी कुशलता से चित्रण किया है। भक्त की भावना तो देखिए, वह कहता है कि जब प्रभु ने झूठे कलंक के दोष से ही सीता को त्याग दिया तब भला वह मुझ जैसे कलंकी को कैसे अपना सकता है :—

व्याध हू तैं बिहद असाधु हौं अजामिल तैं,
ग्राह ते गुनाही कहो तिनमें गनाओगे।
स्योरी हौं न सुद्र हौं न केवट कहूँ कौ त्यों न,
गौतम तिया हौं जापै पग धरि आओगे॥
राम सों कहत पद्माकर पुकारि तुम
मेरे महापापन को पार हू न पाओगे।

सीता सों सती को तज्यो झूठो ही कलंक सुनि,
साँचो हौं कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे ॥

भाव व्यंजना का इस प्रकार निखरा हुआ रूप कई स्थलों पर देख पड़ता है जहाँ कि कवि पाठकों को अपने अंतस्तल तक ले जाने में पूर्ण निपुण रहा है। 'गंगालहरी' के कवित्तों में भी पद्माकर की काव्य कला कुशलता देख पड़ती है।

पद्माकर ने ऋतु वर्णन भी किया है रसवर्णन में भी वे सफल रहे हैं। शृंगार के अतिरिक्त वीर, रौद्र, भयानक, शांत तथा हास्य रस का भी उन्होंने वर्णन किया है। पद्माकर की वर्णन शैली भी प्रशंसनीय है। इस प्रकार पद्माकर भावव्यंजना में सफल देख पड़ते हैं।

परन्तु रीतिकाल के प्रशंसनीय कवि होते हुए भी पद्माकर की कृतियों में कहीं-कहीं निरे भावशून्य छंद देख पड़ते हैं। पद्माकर में प्रतिभा थी, भाषा पर उनका आधिपत्य था और यदि वे चाहते तो साधारण से साधारण भावों को भी जगमगा सकते थे परंतु भाषा के सदृश्य ही भावव्यंजना में भी उनकी सर्वत्र विरोधिनी प्रवृत्ति-सी दृष्टिगोचर होती है। यदि कहीं-कहीं उत्तम भावव्यंजना है तो कहीं-कहीं कोरा शब्दा-डम्बर मात्र ही है। उनकी यह कुछ प्रवृत्ति सी हो गई थी कि वे अपने भावों को घुमा-फिराकर अनेक बार वर्णन करते थे। गंगालहरी के १३ कवित्तों में गंगा के प्रभाव से यमराज, उनके सेवकों और चित्रगुप्त की दुर्दशा का वर्णन बार-बार किया गया है। इस प्रकार भावों की पुनरावृत्ति उनकी रचनाओं में देख पड़ती है। इससे विदित होता है कि कवि का विचार-क्षेत्र संकुचित था और भावव्यंजना करते समय नूतन नूतन भाव उसके इंगितानुसार करतल बद्ध हो सामने नहीं आ जाते थे वल्कि कवि को अपने थोड़े से ही विचारों से भावों से अपना काम निकालना पड़ता था।

पद्माकर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को अपनाया भी है। उनके प्रसिद्ध ग्रंथ जगद्विनोद के तो कई छंद संस्कृत कवियों के श्लोकों

के अनुवाद मात्र हैं। अमरुक और उद्भट के अनेक श्लोकों का अनुवाद—कभी-कभी तो अक्षरशः शब्दानुवाद ही उनकी रचनाओं में देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त केशव, बिहारी, मतिराम, देव, आलम आदि कवियों के भावों को भी पद्माकर ने स्वच्छंदता से अपनाया है। प्रायः प्रत्येक परवर्ती कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को ग्रहण करता है परंतु उन भावों को पुनः कुशलता से व्यक्त करने की क्षमता भी कवि में होनी चाहिए। पद्माकर ने पूर्ववर्ती कवियों से जो भाव ग्रहण किए हैं उन्हें सफलता से चित्रित करने में वे असफल ही रहे हैं।

पद्माकर की कृतियों में अत्याधिक अश्लील और गन्दे छन्द भी देख पड़ते हैं। रीतिकालीन कवियों ने परकीया और विपरीति के वर्णन में अश्लील तथा भद्दे चित्र प्रस्तुत किये हैं। पद्माकर ने भी वासनामूलक, कुरुचि प्रवर्तिनी अश्लील सूक्तियाँ लिखी हैं।

इस प्रकार पद्माकरजी में सर्वत्र परस्पर विरोधिनी प्रवृत्ति ही दृष्टि-गोचर होती है। कहीं-कहीं तो वे इतनी उत्कृष्ट भावव्यंजना करते थे कि उनकी सराहना मुक्तकंठ से करनी ही पड़ती है, साधारण से साधारण भावों को भी जगमगा देने में वे समर्थ थे और उनके छंद उच्चकोटि के कवियों के छंदों से टक्कर लेने में समर्थ थे। परंतु कहीं-कहीं शिथिल भावव्यंजना, विकृत और दोषयुक्त भाषा, तथा संकुचित विचार भी देख पड़ते हैं। भावों की गंभीरता का ह्रास भी पाया जाता है तथा भाव साम्य की भी अधिकता है। परंतु इतना सब होते हुए भी रीतिकालीन कवियों में पद्माकर का अपना एक अद्वितीय स्थान है। मतिराम और देव की काव्यकला चाहे इनसे कितनी ही अधिक निखरी हुई क्यों न हो परन्तु जो लोकप्रियता उन्हें प्राप्त हो सकी है वह उन्हें न मिल सकी। पद्माकर ब्रजभाषा के प्रशंसनीय कवियों में गिने जा सकते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र

परिचय

भारतेंदु हरिश्चंद्र इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचंद के वंशजों में से हैं। भारतेन्दु का जन्म भाद्रपद शुक्ल ५ सं० १९०७ को अर्थात् ९ सितम्बर १८५० ई० सोमवार को हुआ। बाबू शिवनंदनसहायजी ने इनका जन्म भाद्रपद शुक्ल ७ सं० १९०७ को माना है परंतु श्रीव्रजरत्नदासजी ने 'साहित्य-संदेश' के भारतेंदु अंक में ठोस प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि भारतेंदु का जन्म भाद्रपद शुक्ल ५ सं० १९०७ को हुआ।

भारतेंदु के पिता गोपालचंद्र उपनाम गिरिधरदासजी व्रजभाषा के अच्छे कवि थे। हरिश्चंद्र ने बाल्यावस्था में ही निम्नांकित दोहा बनाकर अपने पिता को सुनाया था। जिससे पिता ने प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद दिया था कि तू मेरे नाम को बढ़ावेगा जो आगे चलकर पूर्णतः सिद्ध हुआ :—

लै ब्यौड़ा ठाड़े भये, श्री अनिरुद्ध सुजान।
बानासुर की सैन को, हनन लगे भगवान्॥

पाँच ही वर्ष की अवस्था में इनकी माता का और दस वर्ष की अवस्था में इनके पिता का देहांत हो गया। गृह पर ही इन्होंने हिंदी, उर्दू और अँग्रेजी आदि की शिक्षा प्राप्त की थी। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद से इन्होंने अँग्रेजी पढ़ी थी। भारतेंदु देशाटन के बड़े प्रेमी थे।

ये विद्वानों और कवियों के तो आश्रयदाता ही थे पर अनाथों का भी बड़ा उपकार करते थे। इन्होंने अपनी सारी संपत्ति अपनी उदारता

के फलस्वरूप थोड़े ही दिनों में पानी के सदृश्य बहा दी जिसके कारण अंत में उनका जीवन कष्टपूर्ण व्यतीत हुआ। भारतेंदु समाज सुधार पर भी जोर देते थे। अस्पृश्यता तथा अन्य प्रचलित कुरीतियों का इन्होंने खंडन किया था।

भारतेन्दु हिंदी के प्रति बचपन से ही प्रेम करते थे। इन्होंने सर्वप्रथम 'कवि वचन सुधा' नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया जो कि उनके अंत समय तक बराबर प्रकाशित होता रहा। इन्होंने 'कविता वर्द्धिनी' सभा की स्थापना की जिससे कई नवीन कवि उत्पन्न हुए तथा 'पेनी रीडिंग क्लब' की भी स्थापना की जिसमें लेख आदि पढ़े जाते थे। भारतेन्दु को लिखने का बड़ा व्यसन था। इनके मित्र इन्हें 'राइटिंग मशीन' कहा करते थे। भारतेन्दु ने बालकों की शिक्षा के हेतु अपने गृह पर एक पाठशाला खोली थी जो कि शनैः शनैः हाई स्कूल, इंटरमीडियट कालेज और अब डिगरी कालेज के रूप में चल रही है। भारतेन्दु का स्वभाव बड़ा सुंदर था। ये हमेशा हँसमुख रहते थे तथा दृढ़ता और सत्यता की प्रतिमूर्ति थे। अपना स्वभाव इन्होंने इस कवित्त में वर्णन किया है :—

सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं,
कवित के मीत, चित हित गुन गानी के।
सीधेन सो सीधे, महाबाँके हम बाँकेन सो,
हरीचंद नगद दमाद अभिमानी के॥
चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह नेही—
नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के।
सरबस रसिक के सुदास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधारानी के॥

भारतेंदु के सहयोग से और भी कई नई-नई विभूतियाँ हिंदी साहित्य के क्षेत्र में आईं। लाला श्रीनिवासदास इन्हीं की प्रेरणा से हिंदी लिखने लगे। पं० राधाचरण गोस्वामी इन्हें कविता में अपना

गुरु मानते थे। प्रतापनारायण मिश्र भी इन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे और इनके निधन के उपरांत उन्होंने हरिश्चंद्र संवत भी लिखना प्रारंभ कर दिया था। भारतेंदु सफल नाटककार भी थे और चंद्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी और सत्य हरिश्चंद्र आदि नाटकों को इन्होंने लिखा और मुद्राराक्षस, भारत जननी, विद्यासुंदर आदि का अनुवाद किया था। प्रेममाधुरी, प्रेमफुलवारी, प्रेम मालिका, प्रेमप्रताप आदि इनकी काव्य कृतियाँ हैं। संग्रह ग्रंथों में 'सुंदरी तिलक' प्रसिद्ध है। भारतेंदु आशु कवि थे तथा हिंदी के अतिरिक्त इन्होंने उर्दू, मारवाड़ी, गुजराती, बंगला, पंजाबी और मराठी आदि भाषाओं में भी कविता की है। संवत् १९८० में इन्हें भारतेंदु की उपाधि दी गई जो उचित भी सिद्ध हुई। इनकी मृत्यु ३५ वर्ष की अवस्था में माघ कृष्ण ६ संवत् १९४१ में हुई।

भाषा

यद्यपि भारतेंदु ने काव्य में खड़ी बोली का भी प्रयोग करना चाहा और कुछ कविताएँ खड़ी बोली में लिखी भी थीं परंतु उनकी काव्यभाषा विशेष रूप से ब्रजभाषा ही रही। रत्नाकर की भाँति भारतेंदु ने ब्रजभाषा का अध्ययन नहीं किया था बल्कि अपनी प्रतिभा के द्वारा उन्होंने ब्रजभाषा का परिमार्जित और परिष्कृत रूप काव्य में प्रस्तुत किया। भारतेंदु की ब्रजभाषा शुद्ध ब्रजभाषा है उसे साहित्यिक ब्रजभाषा नहीं कहा जा सकता।

भारतेंदु की भाषा में उत्तम भाषा के समस्त गुण दृष्टिगोचर होते हैं। भावानुकूल शब्द चयन उनकी भाषा की खास विशेषता है। भारतेंदु ने दुरूह शब्दों का प्रयोग नहीं किया है और सर्वत्र ही सरल, सुमधुर शब्दावली रखी है। उनकी भाषा अपेक्षाकृत सरल है और इस प्रकार उसमें प्रसाद गुण की बाहुल्यता है, परंतु मधुरिमा का भी समावेश है। भारतेंदु की भाषा में लालित्य गुण की भी अधिकता है। भाषा-माधुर्य का एक उदाहरण देखिए :—

हाय ! दसा यह कासों कहों,
कोउ नाहिं सुनै जो करै हूँ निहोरन।
कोऊ बचावन हारो नहीं,
हरिचंदजू यों तो हितू हैं करोरन॥
सो सुधि कै गिरिधारन की,
अब धाइकैं दूरि करौ इन चोरन।
प्यारे तिहारे निवास की ठौर कों,
बोरत हैं अँसुवा बरजोरन॥

ब्रजभाषा के पूर्व सौंदर्य को सुरक्षित रख उसे आधुनिक जीवन का अनुगामी बनाना भारतेंदु का महत्वपूर्ण कार्य था। भारतेंदु ने ब्रजभाषा की निजता को सुरक्षित रखा है। भारतेंदु की भाषा में लोकोक्तियों, मुहावरों और कहावतों का अधिकाधिक प्रयोग है। 'हाय सखी इन हाथन सों अपने पग आय कुठार में दीनों' और 'एक जो होय तो ज्ञान सिखाइये कूप ही में यहाँ भाँग परी है' के सदृश्य मुहावरों और कहावतों का उनकी भाषा में स्वाभाविक उपयोग हुआ है। भारतेन्दु ने वस्तुवर्णन करते समय अलंकारों की अत्याधिक व्यंजना की है। 'तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाए' सदृश्य अनुप्रासमयी भाषा उनकी कृतियों में देख पड़ती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, यमक आदि का प्रयोग भी उनकी भाषा में हुआ है।

भारतेंदु ने केशव के सदृश्य चमत्कार प्रदर्शन के हेतु संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग नहीं किया और न सूर की तरह उन्होंने भाषा को साहित्यिक एकरूपता देने का ही प्रयत्न किया। घनानंद के सदृश्य उसे परिष्कृत करने का प्रयत्न भी नहीं किया बल्कि उन्होंने दुरूह अप्रचलित शब्दों से रहित सुललित, सरल और स्वाभाविक ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। भारतेंदु की भाषा में सूर की सी कोमलकांत पदावली, बिहारी की सी मुहाविरे बंदिश, देव की सी मधुरता और पद्माकर का सा प्रवाह है।

भारतेंदु ने खड़ी बोली को विकसित करने का भी प्रयत्न किया है और खड़ी बोली में भी कुछ रचनाएँ लिखी हैं।

कवित्व

बाबू श्यामसुन्दरदास का कथन है–"भारतेंदु हरिश्चंद्र का वास्तविक महत्व परिवर्तन उपस्थित करने में और साहित्य को शुद्ध मार्ग में ले चलने में है। शृंगारिक कविता की प्रबलवेग से बहती हुई जिस धारा का अवरोध करने में हिंदी के प्रसिद्ध वीर कवि 'भूषण' समर्थ नहीं हुए थे, भारतेंदु उसमें पूर्णतः सफल हुए। इससे उनके उच्च पद का पता लगता है।"

भारतेंदु ने देश की वर्तमान दशा का अपने काव्य में चित्रण किया है; सामाजिक समस्याओं की भी उन्होंने विवेचना की है और सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया है। भारतमाता की दुर्दशा का हृदयस्पर्शी चित्रण कर कवि ने जनता में देश भक्ति की भावनाओं को जाग्रत किया है। वे कहते हैं :—

रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।
हा-हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

भारतेंदु ने देश भक्ति पूर्ण कविताएँ भी लिखी हैं। यह अवश्य है कि आज की सी राष्ट्रीय भावनाओं की व्यापकता उनके काव्य में नहीं है पर उस समय को देखते हुए उनकी देशभक्ति की प्रशंसा करना ही चाहिए। यह कहा जाता है कि भारतेंदु ने अंग्रेजी राज की प्रशंसा की है परंतु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भारतेंदु के वास्तविक विचार अँग्रेजी राज्य के प्रति इस प्रकार के थे :—

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात रहै अति ख्वारी॥
ताहू पै मँहगी काल रोग विस्तारी।
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा! हा! री॥

सबके ऊपर टिक्स की आफ़त आई।
हा ! हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥

इस प्रकार भारतेंदु ने हिंदी काव्य में राष्ट्रीयता का बीजारोपण किया।

रीतिकालीन कवियों की भाँति भारतेंदु ने शृंगार वर्णन भी किया है। भारतेंदु के काव्य में प्रेम के उच्च रूप का चित्रण है तथा रीति-कालीन कवियों की भाँति अश्लीलता उनमें नहीं है।

'प्रेम माधुरी' में प्रेमपूर्ण कविताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। "पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं।" जैसे मर्मस्पर्शी उक्तियाँ इन्होंने लिखी हैं। भारतेंदु ने प्रकृति वर्णन भी किया है। हिंदी काव्य में स्वतंत्र प्रकृति वर्णन प्रारंभ करने का श्रेय भारतेंदु को ही है। रीति कालीन कवियों ने प्रायः उद्दीपन की दृष्टि से प्रकृति वर्णन किया है, सेनापति ने अवश्य कुछ शब्दों में प्रकृति का स्वतंत्र रूप दिखलाना चाहा है परंतु स्वतंत्र प्रकृति चित्रण सर्वप्रथम भारतेंदु ने ही किया।

भारतेंदु ने भक्तिपूर्ण रचनाएँ भी लिखी हैं। कृष्ण भक्त कवियो की पद शैली को अपनाकर उन्होंने भक्ति भावना को भी व्यक्त किया है। मर्मस्पर्शी भाव व्यंजना ऐसे पदों में की गई है और हिंदी गीति काव्य में भी उन्होंने आदरणीय स्थान बना लिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं, भारतेंदु एक कुशल कवि थे और उनका काव्य सौंदर्य निखरा हुआ है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

परिचय

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म वैशाख कृष्ण तृतीया संवत् १६२२ में हुआ। इनके पिता का नाम पं० भोलासिंह उपाध्याय और माता का नाम रुक्मिणीदेवी था। यद्यपि इनके पूर्वज बदाऊँ के रहनेवाले थे परंतु लगभग अढ़ाई तीन सौ वर्षों से आजमगढ़ के समीप, तमसा नदी के किनारे निजामाबाद नामक कस्बे में आ बसे थे। उपाध्यायजी पर पिता से अधिक चाचा ब्रह्मासिंह का प्रभाव पड़ा। पाँच वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने इनका विद्यारंभ प्रारंभ किया और घर पर छोटी-छोटी पुस्तकें पढ़ाते रहे। सात वर्ष की अवस्था में ये निजामाबाद के मिडिल स्कूल में भर्ती किए गए, जहाँ से सं० १६३६ में इन्होंने मिडिल वर्नाक्यूलर की परीक्षा पास की। यहाँ से उत्तीर्ण होने पर बनारस के क्वींस कालेज में अँग्रेज़ी पढ़ने लगे परंतु स्वास्थ्य बिगड़ जाने से पढ़ाई छोड़ इन्हें घर चले आना पड़ा और इस तरह घर में ही संस्कृत, फ़ारसी और उर्दू की पढ़ाई करते रहे। सं० १६३६ में इनका विवाह हुआ सं० १६४१ मे ये स्थानीय तहसीली स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए। निजामाबाद में ये बाबा सुमेरसिंह से विशेष प्रभावित हुए और उन्हीं के सत्संग से हिंदी की ओर विशेष आकर्षित हुए। 'हरिऔध' उपनाम इसी बीच रखा गया है। सं० १६४६ में इन्होंने कानूनगो की परीक्षा पास की और कानूनगो का स्थायी पद प्राप्त

किया जिसमें निरंतर उन्नति ही करते रहे। १ नवंबर सन् १६२३ से पेंशन लेकर काशी विश्व विद्यालय में अवैतनिक अध्यापक का काम करते रहे और निरंतर हिंदी साहित्य की सेवा करते रहे। सं० २००३ में आपका देहांत हो गया और हिंदी साहित्य ने एक महान् विभूति को खो दिया।

हरिऔध जी ने कृष्णकाव्य को अपना क्षेत्र चुना। इन्होंने व्रजभाषा में भी कविताएँ लिखी हैं और रसकलश की रचना व्रजभाषा में ही की जिसमें रसों की विवेचना भी की गई है। 'रसकलश' से इनका आचार्यत्व प्रकट होता है। हरिऔध जी की सर्वतोकृष्ट कृति 'प्रियप्रवास' कही जाती है जो कि खड़ी बोली में लिखा हुआ अतुकांत महाकाव्य है। 'प्रियप्रवास' निस्संदेह युगप्रवर्तक महाकाव्य है जो कि संस्कृत वृत्तों में लिखा हुआ है। कृष्णकाव्य को अपना क्षेत्र चुन कर भी इन्होंने 'वैदेही बनवास' जैसे रामविषयक काव्य की सफलता से रचना की। 'पारिजात' और 'पद्य प्रसून' भी इनकी काव्य कृतियाँ हैं। 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नामक उपन्यासों की रचना भी इन्होंने की। 'वेनिस का बाँका' अनुवादित ग्रंथ है। 'प्रियप्रवास' पर इन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हुआ है।

भाषा

यद्यपि हरिऔध जी ने व्रजभाषा में 'रसकलश' जैसे काव्य ग्रंथ की रचना की है पर प्रधानतः वे खड़ी बोली के ही कवि माने जाते हैं। व्रजभाषा लिखने में भी उन्हें अप्रतिम सफलता प्राप्त हुई है और 'उनकी व्रजभाषा में सूर की सी कोमलकांत पदावली, नंददास की सी परिष्कृति, बिहारी की सी वाग्विभूति, मतिराम की सी मधुरता और पद्माकर का सा प्रवाह दृष्टिगोचर होता है।'

हरिऔध की रचनाओं में खड़ी बोली के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं। 'प्रियप्रवास' उनका सर्वतोकृष्ट और प्रथम महाकाव्य है। तथा

जिसकी भाषा संस्कृतगर्भित है। संस्कृतमय भाषा होने से प्रियप्रवास में कहीं-कहीं तो क्लिष्ट पदावली भी दृष्टिगोचर होती है और कहीं-कहीं संश्लिष्ट पदावली। कहीं-कहीं भाषा इतनी अधिक संस्कृतगर्भित हो गई है कि वह निरी संस्कृत ही प्रतीत होती है। एक उदाहरण देखिए :—

भावों भरा मुरलिका स्वर मुग्धकारी।
आदौ हुआ मरुत साथ दिगंत व्यापी॥
पीछे पड़ा श्रवण में बहु भावकों के।
पीयूष के प्रमुद वर्द्धक बिंदुओं सा॥
वंशी निनाद सुन त्याग निकेतनों को।
दौड़ी समस्त जनताति उमंगिता हो॥
गोपी असंख्य बहु गोप तथांगनायें।
आईं विहार रुचि से वनमेदिनी में॥
हो हो सुवादित मुकुंद सदंगुली से।
कांतार में मुरलिका जब गूँजती थी॥
तो पत्र पत्र पर था कल नृत्य होता।
रागांगना विधुमुखी चपलांगिनी का॥

परंतु इस प्रकार की संस्कृत गर्भित भाषा के अतिरिक्त कहीं-कहीं सरल, सुमधुर, लालित्य पूर्ण भाषा भी 'प्रियप्रवास' में देख पड़ती है :—

वर बदन बिलोके फुल्ल अंभोज ऐसा।
करतल-गत होता व्योम का चन्द्रमा था॥
मृदुरव जिसका है रक्त सूखी नसों का।
वह मधुमय कारी मानसों का कहाँ है?

'पारिजात, 'पद्मप्रसून' और 'वैदेही वनवास' में और भी सरल भाषा हरिऔधजी ने लिखी है। इस प्रकार की सरल भाषा में अलंकारों की स्वाभाविक व्यंजना भी हुई है। निम्नांकित अवतरण में अनुप्रास की छटा देख पड़ रही है :—

(३) रख मुँह-लाली लाल-लाल कुसुमालि से।
लोक ललकते लोचन में लस रहे॥

हरिऔधजी की भाषा का एक नूतन रूप उनके चुभते चौपदे, चोखे चौपदे और बोलचाल नामक कृतियों में देख पड़ता है। हरिऔध जी ने ये कृतियाँ बोलचाल की भाषा में लिखी हैं। उनकी इस भाषा शैली को लखकर हिंदी साहित्य क्षेत्र में एक प्रकार की भ्रांति सी फैल गई थी उसका उल्लेख उन्होंने 'बोलचाल' की भूमिका में इस प्रकार किया है—"हिंदी भाषा के एक प्रसिद्ध विद्वान ने मेरे चौपदों की चर्चा कर मुझसे एक बार कहा, मैं उसकी भाषा को हिंदी नहीं कह सकता। मैंने कहा उर्दू कहिए। उन्होंने कहा, उर्दू भी नहीं कह सकता। मैंने कहा, हिन्दुस्तानी कहिए। उन्होंने कहा मैं इसको हिंदी उर्दू के बीच की भाषा कह सकता हूँ। मैंने कहा, हिन्दुस्तानी ऐसी ही भाषा को तो कहते हैं उन्होंने कहा हिन्दुस्तानी में उर्दू का पुट अधिक होता है, इसमें हिंदी का पुट अधिक है मैंने निवेदन किया, फिर आप इसे हिंदी ही क्यों नहीं मानते, उन्होंने कहा चौपदों की बहर उर्दू, उसके पढ़ने का ढंग उर्दू, उसमें उर्दू की ही चाशनी और उर्दू का ही रंग है, उसकी भाषा चटपटी भी वैसी है, उसे हिंदी कहूँ तो कैसे कहूँ।" चौपदों का सृजन हिंदी साहित्य में सर्वथा एक नूतन प्रयास था इसलिये इस प्रकार की भ्रांतियों का फैलना स्वाभाविक ही था। इस बोलचाल की भाषा में मुहावरों का मणिकांचनमय योग है और भावाभिव्यक्ति में भी यह समर्थ रही है भाषा सौंदर्य के एक दो उदाहरण देखिए :—

पाँवड़े कैसे न पलकों के पड़ें,
जोत के सारे सहारे हो तुम्हीं।
आँख में बस आँख में हो घूमते,
आँख के तारे हमारे हो तुम्हीं॥

एक फफोला मा हृदय पर था पड़ा।

फूट करके वह अचानक बह गया॥

आहा! जो अरमान था इतना बड़ा।

आज वह कुछ बूँद बनकर रह गया॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि हरिऔध जी का भाषा पर पूर्ण आधिपत्य था। व्रजभाषा और खड़ी बोली में समान अधिकार से रचना ही उनकी महानता का द्योतक है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि व्रजभाषा के अंतिम महाकवि रत्नाकर न तो खड़ी बोली में ही कुछ जौहर दिखा सके और न खड़ी बोली के प्रसिद्ध महाकवि मैथिलीशरण गुप्त व्रजभाषा में। साथ ही खड़ी बोली में भी हरिऔध की भाषा के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं तो वे विनयपत्रिका से भी अधिक संस्कृत गर्भित भाषा लिखते हैं और कहीं सरल, सुमधुर, सुललित शब्दावली का सृजन करते हैं तथा कहीं सर्व साधारण की बोल चाल तथा मुहाविरेदार भाषा को समान अधिकार से अपनाते हैं। साथ ही उत्तम भाषा के समस्त गुण हरिऔध जी की भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं। अलंकार व्यंजना में भी वे सफल रहे हैं और उपमा, अनुप्रास, यमक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, अन्योक्ति आदि का सफल प्रयोग उन्होंने किया है। तुलसी के सदृश्य लम्बे लम्बे रूपकों को भी उन्होंने प्रस्तुत किया है। एक उदाहरण देखिए—

ऊधो मेरा हृदयतल था एक उद्यान न्यारा।
शोभा देती अमित उसमें कल्पना-क्यारियाँ॥
प्यारे प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहों के विपुल विटपी मुग्धकारी महा थे॥
सच्चिन्ता की सरस-लहरी-संकुला वापिका थी।
लोनी लोनी नवल लतिका थीं अनेकों उमंगें॥

धीरे धीरे मधुर हिलतीं वासना-बेलियाँ थीं।
सद्वांछा के विहग उसके मंजुभाषी बड़े थे॥

इसी प्रकार उपमा का एक उदाहरण देखिए—

हरीतिमा का सुविशाल सिन्धु सा।
मनोज्ञता की रमणीय भूमि सा॥
विचित्रता का शुभ सिद्ध पीठ सा।
प्रशान्त वृन्दावन दर्शनीय था॥

हरिऔध की भाषा में मुहावरों की अधिकता है। चौपदों के अतिरिक्त अन्य कृतियों में भी मुहावरों की अधिकता है। 'पारिजात' से एक उदाहरण देखिए—

'पानी क्या रखते सदैव तुमतो पानी गँवाते मिले।'

और भी—

क्या चार चाँद कितनों में
हैं आठ चाँद लग पाए।

हरिऔध जी की भाषा में माधुर्य गुण की विशेषता है, वैदेही वनवास में अवश्य प्रसाद गुण की बाहुल्यता है। उनकी भाषा सर्वत्र ही भावानुगामिनी रही है।

हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' में व्रजभाषा के क्रिया पदों का प्रयोग भी किया है और इस प्रकार 'लसना' 'विलसना' 'बगरना' आदि व्रजभाषा के शब्दों को उन्होंने अपनाया है। यद्यपि हरिऔध जी का विचार है—"जहाँ तक उपयुक्त और मनोहर शब्द व्रजभाषा में मिलें उनको लेने में संकोच न करना चाहिए।" परन्तु ऐसा करने से खड़ी हिन्दी के व्यक्तित्व का ह्रास हुआ है और भाषा में कर्कशता तथा विकृति का भी प्रादुर्भाव हुआ है। हरिऔध जी ने विशेषणों के संस्कृत लिंगदर्शी रूपों का भी प्रयोग किया है। कहीं कहीं कुछ खटकने वाले शब्दों का प्रयोग भी कवि ने किया है। संस्कृत मय भाषा होने से कहीं कहीं भाषा की नैसर्गिकता का भी ह्रास हुआ है। परन्तु इन थोड़ी सी

त्रुटियों के होते हुए भी उनकी भाषा का महत्व कुछ कम नहीं होता और उनकी भाषा की सराहना मुक्तकंठ से की जाने योग्य है।

काव्य-सौंदर्य

१. हरिऔध जी की भाषा पर विचार करते समय हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि हरिऔध जी की रचनाओं का कलापक्ष निखरा हुआ है। कलापक्ष के साथ-साथ भावपक्ष पर भी विचार करना आवश्यकीय है। प्रायः ऐसा होता भी है कि यदि किसी कवि का कलापक्ष प्रौढ़ है तो फिर भावपक्ष में सौंदर्य नहीं रहता। कलापक्ष और भावपक्ष की सुंदरता में ही किसी कवि की काव्यकला सुंदर कही जा सकती है। हरिऔध जी के प्रिय प्रवास और वैदेही वनवास महाकाव्य की कसौटी पर कसने से खरे उतरते हैं। 'साहित्य दर्पण' में विश्वनाथ ने महाकाव्य में जिन लक्षणों का होना आवश्यकीय माना है, वे समस्त लक्षण प्रियप्रवास और वैदेही वनवास में देख पड़ते हैं। इस प्रकार से महाकाव्य के सृजन में हरिऔध जी को सफलता प्राप्त हुई है।

२. चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी हरिऔध जी को अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है। इन्होंने कृष्ण और राम को यथासंभव मानव चरित्र के रूप में चित्रित किया है। 'प्रियप्रवास' की कृष्ण भावना के प्रति हरिऔध जी ने स्वयं लिखा है—"मैंने श्री कृष्णचंद्र जी को इस ग्रंथ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं। अवतारवाद की जड़ में श्रीमद्भगवद् गीता का यह श्लोक मानता हूँ:—

> "यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्री मदूर्जितमेव वा।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंश संभवम्॥

डा॰ श्रीकृष्णलाल ने 'आधुनिक साहित्य का विकास' नामक पुस्तक में प्रियप्रवास की कृष्ण-भावना के प्रति अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं—'अयोध्यासिंह ने 'प्रियप्रवास' में कृष्ण को एक आदर्श चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया। बंगाल के प्रसिद्ध उपन्यास

लेखक बंकिमचंद्र चटर्जी ने 'कृष्ण चरित्र' नामक पुस्तक में यह भली भाँति प्रदर्शित कर दिया है कि किस प्रकार कृष्ण के स्वाभाविक और मानुषिक कार्य अतिमानुषिक रूप में परिवर्तित किए गए। 'प्रियप्रवास' के कवि ने कृष्ण के प्रसिद्ध अतिमानुषिक कार्यों को एक देश और समाज सेवक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।" हरिऔध जी ने प्रियप्रवास में कृष्ण के अतिमानुषिक कार्य स्वाभाविक रूप में वर्णन किए हैं। गोवर्धन पर्वत वाले कथानक को हरिऔध ने इस प्रकार वर्णन किया है :—

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में,
ब्रज-धराधिप के प्रियपुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे,
रख लिया उँगली पर श्याम ने॥

(हरिऔध ने कृष्ण को लोकोपकारी महापुरुष के रूप में चित्रित किया है और साथ ही कृष्ण संबंधी असंभावित घटनाओं को मानुषिक कार्यों के रूप में चित्रित किया है) आधुनिक युग में कवि को ऐसा करना आवश्यक भी था। कृष्ण चरित्र को इस नूतन परिवर्तित रूप में चित्रित कर उन्होंने रीतिकालीन कृष्ण को उच्चतम बना दिया। रीतिकाल के रसिक कृष्ण अब महात्मा और लोकसेवक के रूप में सामने आए। इस प्रकार श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' के शब्दानुसार उन्होंने ("परब्रह्मता, मानवता और सामाजिक मर्यादा के भीतर प्रगट होनेवाली सौंदर्य भावना का पूर्ण सामंजस्य उपस्थित करके इस बुद्धिवाद-प्रधान शताब्दी की आत्मा को संतुष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है।")

प्रियप्रवास में राधा का चरित्र चित्रण बड़ा ही हृदयस्पर्शी हुआ है। यशोदा का चरित्र वर्णन भी कवि ने बड़ा ही मर्मस्पर्शी किया है और यशोदा के विलाप में जननी के वात्सल्यपूर्ण मानस की भावनाओं को व्यक्त किया है परन्तु 'प्रियप्रवास' के सूत्राधार कृष्ण और राधा

ही माने जावेंगे। श्री गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीश' के शब्दों में—"कृष्ण यदि प्रिय प्रवास की रीढ़ की हड्डी हैं तो राधा अस्थि पंजर को भी जीवित प्राणी के रूप में प्रस्तुत करने वाली प्राणवायु हैं, जिसके अभाव में काव्य का सारा सौंदर्य कपूर की तरह उड़ जाता।") प्रियप्रवास में रीतिकालीन कवियों की भाँति विलासिनी राधिका का चित्रण नहीं किया गया पर राधा उपकारशील बालिका के रूप में चित्रित की गई है :—

सद्‌वस्त्रा - सदलंकृता - गुणयुता - सर्वत्र - सम्मानिता।
रोगी वृद्ध जनोपकार निरता सच्छास्त्र-चिन्तापरा॥
सद् भावातिरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम - संपोषिका।
राधा थीं सुमना प्रसन्न-वदना स्त्री जाति रत्नोपमा॥

राधिका ने लोक सेवा में ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर दिया। उनके लिए लोक सेवा ही प्रियतम की सेवा के सदृश्य है।

वे छाया थीं सुजन शिर की शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परमनिधि थीं औषधी पीड़ितों की॥
दीनों की थीं भगनि जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं अवनि व्रज की प्रेमिका विश्व की थीं॥

हरिऔध जी ने प्राचीन आर्य संस्कृति के आदर्श को अपनी काव्य रचनाओं में सामयिकता के रँग में रँग कर प्रस्तुत किया है। वैदेही—वनवास की भूमिका में उन्होंने लिखा भी है—"महाराज रामचन्द्र मर्यादा पुरुषोत्तम, लोकोत्तर-चरित और आदर्श नरेन्द्र अथच महीपाल हैं, श्रीमती जनकनन्दिनी सती-शिरोमणि और लोक-पूज्या आर्य बाला हैं। इनका आदर्श आर्य संस्कृति का सर्वस्व है, मानवता की महनीय विभूति है, और है स्वर्गीय-संपत्तिसम्पन्न। इसलिये इस ग्रन्थ में इसी रूप में इसका निरूपण हुआ है। सामयिकता पर दृष्टि रखकर इस ग्रन्थ की रचना हुई है। अतएव इसे बोधगम्य और बुद्धि संगत बनाने की चेष्टा क गई है।" इस प्रकार हरिऔधजी ने राम को एक

आदर्श राजा के रूप में चित्रित किया है। वैदेही वनवास के राम कहते हैं :—

"पठन कर लोकाराधन-मंत्र,
करूँगा मैं इसका प्रतिकार।
साधकर जग - हित - साधन-सूत्र,
करूँगा घर घर शान्ति - प्रसार॥"
करूँगा बड़े से बड़ा त्याग,
आत्म निग्रह का कर उपयोग।
हुए आवश्यक जन - सुख देख,
सहूँगा प्रिया - असह्य - वियोग॥

इसी प्रकार प्रिय प्रवास की राधा के सदृश्य वैदेही वनवास की सीता भी विश्व प्रेम को ही महान् मानती हैं ;—

सर्वोत्तम साधन है उर में,
भवहित पूत भाव को भरना।
स्वाभाविक सुख लिप्साओं का,
विश्व प्रेम में परिणत करना॥

इस प्रकार हरिऔध जी की दृष्टि सर्वदा आदर्शवाद और सुधारवाद की ओर रही है। हिंदू संगठन के विषय में भी उन्होंने सूक्तियां लिखी हैं और हिंदू जाति को जाग्रत करने का प्रयास किया है।

हरिऔध जी ने प्रकृति चित्रण भी बड़ा ही सुंदर किया है। रीति कालीन कवियों के प्रकृति वर्णन में वास्तविकता का अभाव सा है। आधुनिक काल के कवियों में प्रकृति के यथार्थ चित्रण का प्रयास हरिऔध जी ने ही किया है। प्रिय प्रवास में और वैदेही वनवास में प्रकृति के यथार्थ चित्रणों की बाहुल्यता सी है। प्रियप्रवास में कवि ने मेघों का वर्णन इस प्रकार किया है—

"सरस - सुंदर सावन - मास था,
घन रहे नभ में घिर घूमते।

विलसती बहुधा जिनमें रही,
छविवती उड़ती बक-मालिका ॥
घहरता गिरि - सानु समीप था,
बरसता छिति छू नव वारि था।
घन कभी रवि-अंतिम-अंशु ले,
गगन में रचता बहु चित्र था॥
नव-प्रभा परमोज्वल-लीक सी,
गतिमती कुटिला-फणिनी-समा।
दमकती दुरती - घन - अंक में,
विपुल केलि-कला-खनि दामिनी॥

६ हरिऔध जी ने रसकलश में रीति-कालीन कवियों की परंपरा ही ग्रहण की है परंतु नायिका भेद के अंतर्गत उन्होंने पति प्रेमिका, परिवार प्रेमिका, जाति प्रेमिका, देश प्रेमिका, जन्मभूमि प्रेमिका, निजतानुरागिनी, लोकसेविका और धर्म प्रेमिका नामक सर्वथा नूतन नायिकाओं का सफलता से चित्रण किया है। नवों रसों की अभिव्यंजना हरिऔध जी ने कुशलता से की है। ब्रजभाषा के ऊँचे से ऊँचे कवियों की रचनाओं से रसकलश की कविताएं टक्कर ले सकती हैं। उनका रसों का विवेचन उनके आचार्यत्व का द्योतक है।

७ हरिऔध जी ने प्रायः विप्रलंभ शृंगार के साथ-साथ वात्सल्य रस की भी प्रियप्रवास में व्यंजना हुई है परंतु प्रधानता विप्रलंभ शृंगार की ही रही है—

नीला प्यारा उदक सरिका देख के एक श्यामा,
बोली खिन्ना विपुल वन के अन्य गोपांगना से।
कालिंदी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता,
प्यारी न्यारी जलद तन की मूर्ति है याद आती॥

यशोदा अपनी मानसिक व्यथा को इस प्रकार व्यक्त करती है—

छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का,
ऊधो कोई न कल छल से लाल ले ले किसी का।
पूजी कोई जनम भर की गाँठ से खो न देवे,
सोने का भी सदन न विना दीप के हो किसी का ॥

प्रेम की वियोगावस्था का और माता की वात्सल्य भावना का उन्होंने अद्वितीय सफलता के साथ चित्रण किया है। हरिऔध की वर्णन शैली भी प्रशंसनीय है और सर्वथा नूतन नूतन भावों की ही व्यंजना उन्होंने की है। कल्पना का क्षेत्र विस्तृत होने से और मानस में भावुकता होने से कवि भावव्यंजना में पूर्ण सफल रहा है। एक उदाहरण देखिए, प्रकृति ने अपने निम्नांकित रूप में राधा को प्रियतम का दर्शन करा दिया :—

कंजों का या उदित शशि का देख सौंदर्य आँखों।
कानों द्वारा श्रवण करके गान मीठा खगों का ॥
मैं होती थी व्यथित हूँ अब हूँ शान्ति पाती।
प्यारे के पाँव मुरली नाद जैसा उन्हें पा ॥

इस प्रकार के नूतन नूतन भावों की ही सृष्टि हरिऔध जी ने की है। उपर्युक्त काव्यगत विशेषताओं को देखते हुए हम कह सकते हैं कि हरिऔध जी वास्तव में कवि सम्राट थे और उन्हें कवि सम्राट कहना उचित भी है।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

परिचय

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म संवत १९२३ भाद्रपद शुक्ल पंचमी को काशी में हुआ था। इनके पिता का नाम पुरुषोत्तमदास था। ये दिल्लीवाल अग्रवाल वैश्य थे। इनके पूर्वज पानीपत के रहने वाले थे और उनका मुगल दरबारों में बड़ा आदर था परन्तु परिस्थिति वश इन्हें काशी आकर बसना पड़ा। रत्नाकर के पिता पुरुषोत्तमदास फारसी के अच्छे विद्वान थे और हिंदी काव्य पर भी उनका अटूट प्रेम था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इनके मित्र थे और बहुधा इनके यहाँ आया जाया करते थे। बाल्यावस्था में रत्नाकर ने भी भारतेन्दु का सत्संग किया था और भारतेन्दु ने कहा भी था कि किसी दिन यह बालक हिन्दी की शोभा वृद्धि करेगा।

रत्नाकर ने सन् १८९१ में बी० ए० की परीक्षा पास की जिसमें अँग्रेजी के साथ दूसरी भाषा फारसी थी। फारसी में वे एम० ए० की भी परीक्षा देना चाहते थे पर कुछ कारणों से न दे सके। इधर इसी बीच 'जकी' उपनाम से इन्होंने फारसी में कविताएँ लिखना प्रारंभ किया। इस विषय में इनके उस्ताद मुहम्मद हसन फायज थे।

रत्नाकर सर्वप्रथम आवागढ़ में खजाने के निरीक्षक के पद पर नियुक्त हुए पर जलवायु अनुकूल न होने से दो ही वर्षों में नौकरी छोड़ दी और काशी चले आए। इसी बीच इन्होंने हिन्दी काव्य का अभ्यास प्रारंभ किया। रत्नाकर ने ब्रजभाषा को ही अपनाया और उसी में अपनी कविताएँ लिखीं। सन् १९०२ में ये अयोध्या-नरेश के प्राइवेट

सेक्रेटरी नियुक्त हुए परन्तु सन् १६०६ में महाराज का स्वर्गवास हो गया और महारानी ने इनकी सेवाओं पर प्रसन्न हो इन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी नियुक्त किया तथा मृत्यु पर्यन्त वे इसी पद पर रहे। रत्नाकर जी का देहावसान ता० २१ जून १६३२ को हरिद्वार में हुआ।

रत्नाकर ने हिंडोला, हरिश्चन्द्र, कलकाशी, रत्नाष्टक, वीराष्टक, घनाक्षरी नियम रत्नाकर, उद्धवशतक और गंगावतरण नामक ग्रंथ रचे। समालोचनादर्श अनुवादित ग्रंथ है। व्रजभाषा में प्रबन्ध काव्यों का अभाव सा है; रत्नाकर ने 'गंगावतरण' की रचना कर इस अभाव की पूर्ति की। बिहारी सतसई की सबसे सुंदर और उत्कृष्ट टीका रत्नाकर ने 'बिहारी रत्नाकर' नामक लिखी। इन्होंने बहुत अधिक परिश्रम और बहुत सा धन व्यय कर 'सूरदास' का संग्रह और संपादन किया था परन्तु उसका केवल तीन चतुर्थांश ही पूरा कर सके।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने रत्नाकर की समस्त काव्य कृतियों का एक सुंदर संग्रह 'रत्नाकर' नाम से प्रकाशित किया है।

भाषा

रत्नाकर ने व्रजभाषा को ही अपनाया। व्रजभाषा पर इनका व्यापक अधिकार था। इन्होंने व्रजभाषा और व्रजसाहित्य का अध्ययन कर उसमें पटुता प्राप्त की और इस प्रकार व्रजभाषा को साहित्योचित एकरूपता देने का प्रयत्न किया। श्री रामशंकर शुक्ल 'रसाल' के शब्दों में—"व्रजभाषा को साहित्योचित एकरूपता देने का जो कार्य आचार्य केशव द्वारा उठाया गया था तथा महाकवि बिहारीलाल के द्वारा आगे बढ़ाया जाकर कविवर घनानंदादि के द्वारा प्रौढ़ किया था वही अब 'रत्नाकर' जी के द्वारा पूर्ण किया गया है, अर्थात् 'रत्नाकर जी' ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में पूर्ण प्रधानता प्राप्त करने वाली सर्वमान्य व्रजभाषा को वह निश्चित एकरूपता दी है जो साहित्यिक भाषा के लिए अनिवार्य ही ठहरती है और जिसके ही आधार पर स्थायी साहित्य की

रचना की जा सकती है।" इस प्रकार रत्नाकर की भाषा शुद्ध साहित्यिक व्रजभाषा है।

रत्नाकर ने संस्कृत शब्दावली का भी प्रयोग किया है, परन्तु पढ़ने में वह खटकती नहीं है। व्रजभाषा का माधुर्य उसमें भी आ गया है। केशव के सदृश्य उन्होंने व्रजभाषा की निजता ही नष्ट नहीं कर दी। संस्कृत पदावली युक्त भाषा का एक उदाहरण देखिए—

स्यामा सुवर अनूप रूप गुन सील सजीली।
मंडित मृदु मुखचंद मंद मुस्क्यानि लजीली॥
काम वाम अभिराम सहस सोभा सुभ धारिनि।
साजे सकल सिंगार दिव्य हेरति हिय हारिनि॥

बिहारी के सदृश्य रत्नाकर ने भी अपनी भाषा में सामासिक पदावली की अधिकता रखी है। सामासिक पदावली के योग से भाषा की अभिव्यंजना शक्ति की वृद्धि होती है और भाषा का रूप भी परिमार्जित होता है। रत्नाकर ने कहीं कहीं लम्बे लम्बे समासों का भी उपयोग किया है—

जय गिरीस-सुभ-सीस-सरस सोभा-संचारिनि।
हत-त्रिलोक-त्रय-ताप-जनित-संताप-निवारिनि॥
जय अमृतासन-वृंद-तोष-निज-वाढ़ बढ़ावनि।
स्वल्प-सुधा-कृत-देव-दनुज-दल-द्रोह-महावनि॥

जैसा कि दास जी ने काव्य निर्णय में लिखा है—

माधुर्योज प्रसाद के सब गुन हैं आधीन।
तातें इनहीं को गनें मम्मट सुकवि प्रवीन॥

भाषा में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों का रहना परमावश्यकीय है। रत्नाकर की भाषा में भी ये तीनों गुण दृष्टिगोचर होते हैं। रत्नाकर की भाषा सुमधुर है और उसमें उपनागरिका एवं कोमल वृत्तियों की भी यत्र तत्र प्रधानता है। माधुर्यमयी भाषा का एक उदाहरण देखिए :—

धाईं जित-तित तैं बिदाई-हेत ऊधव की,
गोपी भरीं आरति सम्हारति न साँसुरी।
कहै रतनाकर मयूर-पच्छ कोऊ लिए,
कोऊ गुंज-अंजली उमाहे प्रेम-आँसुरी॥
भाव-भरी कोऊ लिए रुचिर सजाव दही,
कोऊ मही मंजु दाबि दलकत पाँसुरी।
पीत पट नंद जसुमति नवनीत नयौ,
कीरति कुमारी सुखारी दई बाँसुरी॥

ब्रजभाषा के कवियों में भूषण के उपरान्त रत्नाकर ही भाषा में ओज लाने में समर्थ हुए। रत्नाकर ने भाषा में ओज लाने के हेतु शब्दों को विकृत नहीं किया और न तो दुरूह तथा अपभ्रंश के शब्दों का प्रयोग किया है। सरल शब्दावली में स्वाभाविक ही ओज का प्रादुर्भाव हुआ है। एक उदाहरण देखिए :—

गांडिव के कांड यौं उमंडि रनमंडल मैं,
रॉच्यौ रन-तांडव उदंड रिपु झुण्ड मैं।
कहै रतनाकर छिपच्छि बरिबंड लगे,
लुण्ड मुण्ड लोटन धरा मैं स्रन कुण्ड मैं॥
खंडित ह्वै उचटि उमंडि चंड बाननि सौं,
औरनि के मुण्ड मिलैं औरनि के रुण्ड मैं।
कुण्डनि के रुण्ड मैं वितुण्डनि के सुण्ड लगैं,
कुण्डनि के मुण्ड त्यौं बितुण्डनि के तुण्ड मैं॥

रत्नाकर की भाषा में प्रसाद गुण भी पाया जाता है और इस प्रकार उत्तम भाषा के समस्त गुण उनकी भाषा में दृष्टिगोचर होते हैं। रत्नाकर की भाषा भावों को स्पष्टता के साथ व्यक्त करने में समर्थ है अर्थात् उनकी भाषा में अर्थ शक्ति भी है। कवि ने भावानुकूल शब्दों का चयन कर अपनी पदावली का निर्माण किया है और इस प्रकार भाषा सौंदर्य की अभिवृद्धि हुई है।

रत्नाकर की भाषा में संयतता और सजीवता भी है तथा अशक्त पदावली का अभाव है। जिस प्रकार रीतिकालीन कवियों में घनानंद की भाषा में लाक्षणिकता है उसी प्रकार रत्नाकर ने भी लाक्षणिक प्रयोग किए हैं। निम्नांकित उदाहरण देखिए :—

भव-वैभव की जदपि भूप-गृह अमित उज्यारौ।
गउ इक सुत कुल-दीप बिना भव लगत अँध्यारौ॥

यहाँ उज्यारो तथा अँध्यारो शब्द लाक्षणिक प्रयोग हैं। वास्तविक प्रकाश भव वैभव से नहीं होता और न वास्तविक अंधकार ही पुत्र के अभाव से होता है परंतु इन शब्दों के प्रयोग से पाठक अर्थ के समीप सरलता से पहुँच सकता है। यदि पुत्र न हो तो आखिर पिता का भव वैभव किस काम पड़ेगा। इस प्रकार भव वैभव युक्त उस भवन में वैभवता का आलोक होने पर भी पुत्र के होने से तिमिर सा छाया रहता है। इस प्रकार लाक्षणिकता से रत्नाकर का भाषा सौंदर्य और अधिक निखर उठा है। रत्नाकर की भाषा में लाक्षणिक प्रयोगों की बाहुल्यता है।

इनकी भाषा में मुहावरों, लोकोक्तियों और कहावतों का भी प्रयोग हुआ है। रत्नाकर ने मुहावरों का अधिक प्रयोग किया है : –

जैहैं वृथा आँखैं खुलि तव जय देखन कौं,
जग में तिहारे ना दुलारे रहि जायँगे।

और भी—

जोगिनि के हास पै भरोस पै वियोगिनि के,
रोस पै संजोगिनि के ओस परिबै लगी।

इसी प्रकार निम्नांकित अवतरण में 'होम करत कर जरयो, नामक कहावत का प्रसंगानुकूल प्रयोग हुआ है :—

हाय तात यह भयौ घात बिन बात तिहारी।
होम करत कर जरयौ परयौ विधि वाम हमारौ॥

रत्नाकर ने अलंकार व्यंजना भी की है। शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की स्वाभाविक अभिव्यंजना ही हुई। अनुप्रास का एक उदाहरण देखिए :—

जैहैं बन बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की।

यमक, श्लेष, उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा का भी इन्होंने प्रयोग किया है। कहीं-कहीं एक ही छंद में कई अलंकारों का समावेश हो गया है। रत्नाकर ने कुछ ऐसे अलंकारों का भी प्रयोग किया है जो कि भाषा में अभी तक अप्रचलित से थे। अत्युक्ति का एक सुंदर उदाहरण देखिए :—

सूखि जात स्याही लेखिनी कैं नेंकु डंक लागै,
अंक लागै कागद बररि बरि जात है।

रत्नाकर की भाषा में अलंकारों का प्रादुर्भाव आप ही आप हुआ है। रत्नाकर की भाषा प्रवाहमय है और उसमें लचकीलापन Elasticity भी है।

रत्नाकर ने पूर्वी प्रयोगों को भी स्वच्छंदता से अपनाया है। कुछ बुन्देलखण्डी शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है। रत्नाकर की भाषा में कुछ शब्द ऐसे भी देख पड़ते हैं जिनका उच्चारण तथा रूप एक होने पर भी वे अवधी और ब्रज में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। रत्नाकर ने व्याकरण के नियमों का उल्लंघन बहुत कम किया है और सर्वत्र व्याकरणानुमोदित भाषा ही लिखी है। इस प्रकार रत्नाकर की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है तथा उत्तम भाषा के समस्त गुण उसमें दृष्टिगोचर होते हैं। श्री कृष्णशंकर जी शुक्ल ने उचित ही लिखा है—"ब्रजभाषा के प्रायः कवियों की भाषा में जो अस्थिरता तथा अव्यवस्था पाई जाती है वह इनकी भाषा में कहीं नहीं प्राप्त होती।"

कवित्व

जिस प्रकार व्रजभाषा को परिमार्जित और साहित्योन्नित एकरूपता देने का श्रेय रत्नाकर को है उसी प्रकार व्रजभाषा में कुछ नूतन विषयों का वर्णन करना भी अत्याधिक महत्वपूर्ण कहा जावेगा। 'शृंगार लहरी' में रत्नाकर हमें रीतिकालीन काव्य परंपरा के अनुयायी से देख पड़ते हैं। जिस प्रकार रीतिकालीन कवियों ने नायिका भेद, रति, विपरीत रति, और संयोग तथा वियोग शृंगार के चित्र प्रस्तुत किए हैं उसी प्रकार रत्नाकर ने भी शृंगार लहरी में संयोग तथा वियोग शृंगार, रति, विपरीत रति और नायिका भेद का वर्णन किया है।

उद्धवशतक जिसे कि रत्नाकर की सर्वोत्कृष्ट कृति कहा जाता है, व्रजभाषा की अमर कृतियों में से है। विप्रलंभ शृंगार की व्यंजना इसमें की गई है। उद्धवशतक, भ्रमरगीत परम्परा के अन्तर्गत रखा जा सकता है परन्तु भ्रमरगीतों से उसमें कुछ अधिक विशेषताएँ हैं। उद्धवशतक मुक्तक और प्रबन्ध काव्य दोनों कहा जा सकता है। निर्गुणोपासना का खंडन और सगुणोपासना का समर्थन भी इसकी उक्तियों में किया गया है परन्तु विशेषता यह है कि कवि दार्शनिक सिद्धान्तों के वर्णन में ही उलझ नहीं गया है। गोपियों के हृदय की भावनाओं को साकाररूप में व्यक्त करते समय कहीं-कहीं निराकार ब्रह्म का उपहास किया गया है पर कवि ने वियोगावस्था का चित्रण अपना प्रमुख उद्देश्य समझा है। गोपियाँ कहती हैं—

> रावरो अनूप कोऊ अलख अरूप ब्रह्म,
>
> ऊधौ ! कहौ कौन धौं हमारे काम आइहै।

इस प्रकार उद्धवशतक में कलात्मकता और भावात्मकता का मणिकांचन मय योग है। गंगावतरण की रचना कर रत्नाकर ने व्रज भाषा में प्रबन्ध काव्य के रिक्त स्थान की पूर्ति की। यह अवश्य है कि

वाल्मीकि रामायण की गंगावतरण पर कहीं कहीं छाया सी पड़ी है परन्तु तो भी उसमें मौलिकता है और काव्य कला भी निखरी हुई है। वीराष्टक के कवित्तों की समता भूषण के कवित्तों से की जा सकती है और वीरकाव्य के सृजन में भी हम उन्हें सफल देखते हैं। वीर काव्य में श्रीकृष्ण दूतत्व, भीष्मप्रतिज्ञा, वीर अभिमन्यु और जयद्रथ वध आदि विषयों पर तो लिखा ही गया है पर प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह, दुर्गावती, छत्रसाल, लक्ष्मीबाई आदि वीरों पर प्रशस्तियाँ लिखी गई हैं। वीर, रौद्र और भयानक रस का कुशलता से इनमें परिपाक हुआ है। इस प्रकार हम रत्नाकर को ब्रजभाषा के एक कुशल कवि के रूप में पाते हैं। उनकी कृतियों को देखते हुए उनकी वर्णन शैली और कल्पना की महत्ता देख पड़ती है।

रत्नाकर सौंदर्य वर्णन में पूर्ण सफल रहे हैं। वहिर्जगत और—अन्तर्जगत दोनों का चित्रण उन्होंने किया है। प्रकृति सौंदर्य के चित्र भी उन्होंने प्रस्तुत किए हैं। प्रभात और सन्ध्या वर्णन पर एक-एक अष्टक इन्होंने लिखा है तथा शुद्ध प्रकृति का वर्णन किया है। ऋतु वर्णन भी उन्होंने कुशलता से किया है। ब्रजभाषा के प्राचीन कवियों में सेनापति आदि कुछ कवियों ने अवश्य कुछ वास्तविकता से काम लिया है नहीं तो अधिकतर कवियों का ऋतु-वर्णन एक बँधी हुई परिपाटी पर चला है। रत्नाकर ने अपने ऋतु-वर्णन में प्रकृति की मनोहर झांकी प्रस्तुत की है और इस प्रकार उनके ऋतु-वर्णन सम्बन्धी स्फुट कवित्त ब्रजभाषा के अन्य कवियों के ऋतु वर्णन से बढ़े-चढ़े से प्रतीत होते हैं। उद्धव शतक में भी रत्नाकर ने प्रत्येक ऋतु पर एक कवित्त लिखा है और उसमें प्रकृति का गोपियों की मानसिक भावनाओं पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका हृदयग्राही चित्रण किया गया है। वर्षा वर्णन देखिए—

रहति सदाई हरियाई हिय-घायनि मैं,
ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है।

पीव पीव गोपी पीर पूरित पुकारति है,
सोई रत्नाकर पुकार पपिहा की है ॥
लागी रहै नैननि सों नीर की झरी ओ,
उठे चित में चमक सो चमक चपला की है ।
विनु घनश्याम धाम धाम ब्रज मंडल में,
ऊधो नित वसति बहार बरसा की है ॥

रसव्यंजना में भी रत्नाकर पूर्ण सफल रहे हैं। प्रायः नवों रसों का प्रसंगानुसार इन्होंने वर्णन किया है। इन्होंने भक्ति भावना पूर्ण कविताएँ भी लिखी हैं। गंगा लहरी, विष्णुलहरी और कुछ स्फुट कवित्तों में भक्ति भावना का भी मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। गंगा का प्रादुर्भाव पापियों के उद्धार के हेतु हुआ था। गंगा से भगीरथ ने वरदान भी यही माँगा :—

पापी पतित स्वजाति - त्यक्त सौ सौ पीढ़िनि के।
धर्म - विरोधी कर्म - भ्रष्ट च्युत स्रुति सीढ़िन के ॥
तव जल स्रद्धा - सहित न्हाइ हरि नाम उचारत ।
ह्वै सब तन - मन सुद्ध होहिं भारत के भारत ॥

रत्नाकर की अभिव्यंजन शैलियाँ और चित्रोपम कला भी सराहनीय है। रत्नाकर ने रूप वर्णन भी किया है। तथा नूतन नूतन भावों की भी व्यंजना की है। इस प्रकार उनकी भाव व्यंजना भी प्रशंसनीय कही जावेगी। अतएव सब प्रकार से विचार करने पर प्रतीत होता है कि रत्नाकर ब्रजभाषा के एक कुशल कवि थे और हिंदी कवियों में उनका आदरणीय स्थान है। ब्रजभाषा की जो श्रीवृद्धि उन्होंने की है वह किसी से छिपी नहीं है।

खड़ी बोली के तुलसी गुप्तजी ने कृष्ण काव्य को भी अपनाया और 'द्वापर' नामक काव्य की रचना की। गुप्तजी राष्ट्रकवि हैं अतएव भारतीय राष्ट्र के मुसलमानों के धार्मिक तीर्थों की उपेक्षा न कर 'काबा और कर्बला' की रचना करना सराहनीय ही कहा जावेगा। रहस्यवादी कविताओं से प्रभावित होकर उन्होंने 'झंकार' की रचना की जिसमें रहस्यवादी गीतों का संग्रह है। 'चंद्रहास' सदृश्य नाटक भी उन्होंने लिखे हैं यद्यपि नाटकीयता का उनमें अभाव सा है और नाट्य-शास्त्र की कसौटी पर वे खरे नहीं उतरते। प्लासी का युद्ध, मेघनाथ वध तथा विरहिणी ब्रजांगना उनकी अनुवादित कृतियाँ हैं जिनके अनुवाद में वे पूर्ण सफल रहे हैं। इनके अतिरिक्त नहुप, कुणालगीत, सिद्धराज, त्रिपथगा, विकट भट, शकुंतला, अनघ, अर्जन और विसर्जन आदि भी उनकी कृतियाँ हैं। गुप्तजी अभी भी हिंदी साहित्य भंडार की उत्तरोत्तर वृद्धि करते ही जा रहे हैं।

गुप्तजी को साकेत पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हो चुका है और उन्हें विश्वविद्यालय ने डी० लिट० की उपाधि भी प्रदान की है। गुप्तजी चिरगाँव में ही रहकर 'साहित्य सदन' द्वारा हिंदी साहित्य की सेवा कर रहे हैं।

भाषा

गुप्तजी खड़ी बोली के प्रमुख कवियों में गिने जाते हैं। द्विवेदी युग में शनैः-शनै ब्रजभाषा का मान घटता जा रहा था और खड़ी बोली की ओर कविगण प्रेरित हो रहे थे। द्विवेदीजी ने खड़ी बोली के विकास के लिए जो श्रम किया वह तो सराहनीय है ही पर गुप्तजी की प्रशंसा करना भी आवश्यकीय है क्योंकि काव्य भाषा खड़ी बोली को परिमार्जित करने का श्रेय गुप्तजी को ही है। यद्यपि गुप्तजी के पूर्व ही खड़ी बोली में काव्य रचना प्रारंभ हो चुकी थी पर उसे परिमार्जित करने का श्रेय गुप्तजी को ही मिला। भारतेंदु को खड़ी बोली से ब्रजभाषा ही काव्य

रचना के लिए अधिक प्रिय थी। पं० बदरीनारायण चौधरी, पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर' तथा पं० श्रीधर पाठक आदि की भाषा में भी अस्तव्यस्तता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। हरिऔधजी की भाषा के भिन्न-भिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। यह हम प्रारंभ में ही लिख चुके हैं। इस प्रकार इस अस्तव्यस्त खड़ी बोली को काव्योपयोगी भाषा बनाने का श्रेय निस्संकोच गुप्तजी को दिया जा सकता है।

गुप्तजी की भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। उदाहरणार्थ यह अवतरण देखिए :—

> ऊपर नील वितान तना था, नीचे था मैदान हरा,
> शून्य मार्ग से विमल वायु का आना था उल्लास भरा।
> कभी दौड़ने लग जाते हम, रह जाते फिर मुग्ध खड़े,
> उड़ने की इच्छा होती थी उड़ते देख विहंग बड़े॥
>
> (किसान)

इस प्रकार की सरल भाषा काव्य के लिए सर्वथा उपयोगी कही जा सकती है। गुप्त जी ने प्रायः ऐसी ही शुद्ध, सरल, सुललित खड़ी बोली में काव्य-रचना की है। संस्कृत वार्णिक वृत्तों का प्रयोग करते समय कवियों ने संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिकाधिक किया है। प्रिय प्रवास की भाषा तो संस्कृत गर्भित ही है। गुप्त जी की भाषा में भी संस्कृत के तत्सम शब्दों की बाहुल्यता है। गुप्त जी ने तद्भव शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है और तत्सम शब्दों की अधिकता रखी है। निम्नांकित अवतरणों के रेखांकित शब्दों को देखने से स्पष्ट पता चलेगा कि गुप्तजी की भाषा में तत्सम शब्दों की किस प्रकार अधिकता है :—

(१) री लेखनी! हृत्पत्र पर लिखना तुझे है यह कथा।
दृक्कालिमा में डूब कर तैयार होकर सर्वथा॥

(भारत भारती)

(२) दुस्तर क्या है उसे विश्व में प्राप्त जिसे प्रभु का प्रणिधान।
पार किया मकरालय मैंने उसे एक गोष्पद मान॥
(साकेत)

(३) अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्य्य पुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी॥
(यशोधरा)

कहीं-कहीं संस्कृत-गर्भित भाषा भी दृष्टिगोचर होती है। गुप्तजी ने "रत्नावली" में इसी प्रकार की भाषा लिखी है :—

काले और विशाल व्याल बिखरे कल्लोल के कारण;
फूलों के सम फेन जाल जिसमें, शोभा किये धारण।
माला और दुकूल भी ललित हैं होके जलांदोलित;
आपद्-ग्रस्त तथापि मंजुल-मुखी, रत्नावली शोभित॥

गुप्त जी की भाषा में अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग भी हुआ है। गुप्त जी ने प्रसंगानुकूल भाषा ही लिखी है तथा भाषा भावाभिव्यक्ति में पूर्ण सफल भी रही है। भाषा प्रवाहमय और हृदयस्पर्शी है। यद्यपि प्रसाद गुण की इनकी कृतियों में अधिकता है पर माधुर्य और ओज भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होते हैं। मुहावरों के उपयोग में भाषा सौंदर्य और भी अधिक निखर उठता है परन्तु गुप्त जी की भाषा में मुहावरों की न्यूनता सी है। थोड़े से ही स्थलों पर गुप्त जी ने मुहावरों का प्रयोग किया है :—

(१) ठोक कर अपना क्रूर कपाल।
जताकर यहीं कि फूटा भाल॥
(साकेत)

(२) उड़ाती है तू घर में कीच।
नीच होते हैं बस नीच॥
(साकेत)

(३) और जमाना चाह उसने,
उनके अधिकारों में पांव।
(गुरुकुल)

गुप्त जी ने फारसी अरबी के शब्दों को बहुत कम अपनाया है। एक दो स्थलों पर प्रसंगानुकूल फारसी अरबी के शब्दों की अधिकता सी है परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं और प्रायः शुद्ध खड़ी बोली ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। गुप्त जी ने प्रान्तीय बोलियों के शब्दों को भी अपनाया है। प्रान्तीय बोलियों के शब्दों को अपनाने के विषय में उन्होंने 'गुरुकुल' में इस प्रकार लिखा है—"बोलचाल की भाषा की कविता का शब्द-भण्डार भरने में अपनी प्रांतिक भाषाओं से भी सहायता लेकर हमें उनसे संबंध-सूत्र बनाये रखना उचित जान पड़ता है। ब्रज, बुन्देलखंडी, और अवधी की तो बात ही जाने दीजिए, उन्हें तो हम लोग अपने घरों और गांवों में नित्य बोलते ही हैं, लेखक की राय में तो अन्य प्रांतिक भाषाओं में से भी हमें शब्द "जोगाड़" करते हुए "सिहरने" के बदले "विभोर" ही होना चाहिए।" इस प्रकार निस्संदेह गुप्त जी की भाषा को उत्तम भाषा कहा जा सकता है।

काव्य-सुषमा

गुप्तजी वास्तव में प्रतिनिधि कवि हैं, और उन्होंने समयानुसार रचनाएँ ही लिखी हैं। गुप्तजी की शैली पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्होंने कालानुसार शैली ही अपनाई है। यद्यपि नाटकीय शैली भी इन्होंने अपनाई है पर प्रधानतया प्रबंधात्मक शैली और गीति काव्यात्मक शैली ही इन्होंने अपनाई है। आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रबंध काव्य, गीति काव्य और मुक्तक नामक तीनों रूप इनकी कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं पर प्रधानतः गुप्तजी प्रबंध काव्य के रचयिता ही माने जा सकते हैं। रंग में भंग, जयद्रथ वध, विकट भट, गुरुकुल, किसान, पंचवटी, सिद्धराज, साकेत और यशोधरा आदि इनके प्रबंध

काव्य ही है। गुप्तजी के गीत, परंपरागत पद शैली और आधुनिक गीत शैली नाम दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं। गुप्तजी के गीति काव्य में भावपक्ष की प्रबलता है पर कलापक्ष उतना मनोहर न बन सका है 'कुणाल गीत' के गीतों में सरसता और तन्मयता है। 'झंकार' के गीतों में रहस्यवाद का पुट है तथा साथ ही धार्मिकता की स्पष्ट छाया भी है। 'यशोधरा' और 'साकेत' में भी छोटे-छोटे मधुर गीत हैं।

यद्यपि गुप्तजी ने 'काबा और कर्बला' की भी रचना की है परंतु वास्तव में वे हिंदू समाज और हिंदू संस्कृति के ही कवि हैं। इन्हीं दोनों की उन्नति वे देखना चाहते हैं। 'भारत भारती' में उन्होंने लिखा है :—

हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥

हरिऔधजी ने भी हिंदू जाति के उद्बोधनार्थ बहुत सी कविताएँ लिखी थीं और उनके उपरांत गुप्तजी ने इस क्षेत्र में काफ़ी काम किया और हिंदुओं को संगठित करना चाहा है। गुप्तजी की कृतियों के नायक प्रायः समाज सेवक के रूप में ही चित्रित किए गए हैं। 'अनघ' में 'मघ' को तो समाज सेवक के रूप में चित्रित किया ही गया है पर वैतालिक, हिंदू और गुरुकुल में भी सामाजिक आदर्श दृष्टिगोचर होते हैं। 'भारत भारती' में सामाजिक दोषों पर भी प्रकाश डाला गया है। 'साकेत' के राम भी एक आदर्श समाज सेवक के रूप में चित्रित किए गए हैं। 'साकेत' के राम समाज सेवा के विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं :—

निज रक्षा का अधिकार रहे जन-जन को।
सबकी सुविधा का भार किंतु शासन को॥
मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं।
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन शापित हैं॥

हो जायँ अभय वे जिन्हें कि भयभासित हैं।
जो कौणप-कुल से मूक सदृश शासित हैं॥

इसके अतिरिक्त राम इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने के हेतु आए थे :—

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥

'यशोधरा' में गौतमबुद्ध ने भी समाज सेवा का आदर्श सर्वोपरि माना है। इस प्रकार गुप्तजी ने सामाजिक आदर्शों का ही चित्रण अपने काव्य में किया है। यद्यपि गुप्तजी ने हिंदू संगठन पर ही ज़ोर दिया है परंतु विशेषता यह है कि जहाँ वे इस प्रकार की पंक्तियाँ लिखते हैं :—

रक्खो हिंदूपन का गर्व।
यहीं ऐक्य के साधन सर्व॥
हिंदू निज संस्कृति का त्राण।
करो, भले ही दे दो प्राण॥

× × ×

करो बन्धु गण करो विचार।
किस प्रकार अब हो उद्धार॥
सब कुछ गया, जाय बस एक—
रक्खो हिंदूपन की टेक॥

वहाँ साथ ही उन्होंने अहिन्दुओं के प्रति कहीं भी घृणा के भाव प्रदर्शित नहीं किए और मुसलमानों के प्रति सद्भावपूर्ण विचार भी व्यक्त किए हैं :—

हिंदू हो या मुसलमान हो,
नीच रहेगा फिर भी नीच।
मनुष्यत्व सब के ऊपर है,
मान्य मही मण्डल के बीच॥

और वे हिन्दू मुसलमानों का एक हो जाना ही श्रेयस्कर मानते हैं:—

हिंदू मुसलमान दोनों अब छोड़ें
वह विग्रह की नीति ॥

गुप्त जी ने मातृभूमि प्रेम की भी कुछ सूक्तियाँ लिखी हैं। बारडोली के वीर सत्याग्रहियों की विजय पर इन्होंने बड़ी सुंदर कविता लिखी है और हल्दीघाटी तथा थर्मापोली से बारडोली को श्रेष्ठ सिद्ध किया है। इस प्रकार गुप्त जी राष्ट्रीय कवि कहे जा सकते हैं।

गुप्त जी की विशेषता उनके चरित्र चित्रण में है। नवीन प्रसंगों की उद्भावना भी उन्होंने की है। साकेत के 'कैकेयी-अनुताप' में कवित्व का उच्चतम रूप देख पड़ता है। कैकेयी का अनुताप साकेत की एक प्रधान विशेषता है। भरत की आत्मग्लानि का भी उन्होंने मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। भरत के आदर्श चरित्र को चित्रण करने में गुप्त जी को अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है। उर्मिला का वियोग वर्णन पूरे दो सर्गों में किया गया है और उर्मिला के चरित्र को महानता प्रदान की है। कामदेव का उस पर कुछ प्रभाव नहीं होता और वह कहती है :—

नहीं भोगिनी यह मैं कोई जो तुम जाल पसारो।
बल हो तो सिंदूर-बिन्दु यह हरनेत्र निहारो॥
रूप-दर्प कन्दर्प! तुम्हें तो मेरे पति पर वारो।
लो यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो॥

उर्मिला की प्रशंसा में राम ने उचित ही कहा है:—

तू ने तो सह धर्म्मचारिणी के भी ऊपर।
धर्म्मस्थापन किया भाग्य शालिन इस भू पर॥

यशोधरा का वियोग वर्णन उर्मिला से भी अधिक हृदयस्पर्शी है। उर्मिला के स्वामी तो चौदह वर्ष के उपरांत मिलेंगे भी पर यशोधरा के लिए तो यह चिर वियोग ही है। कवि ने यशोधरा के उच्च हृदय का

चित्रण किया है। यशोधरा का चरित्र चित्रण हिंदी-साहित्य की एक अमूल्य निधि है। वियोगिनी यशोधरा अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण समझती है। यशोधरा को प्रियतम के वियोग का दुख नहीं है पर उन्हें दुख इस बात का है कि वे चोरी-चोरी गये। यशोधरा अपनी व्यथा इस प्रकार व्यक्त करती है—

मिला न हा इतना भी योग,
मैं हँस लेती तुझे वियोग।
देती उन्हें विदा मैं गाकर,
भार झेलती गौरव खाकर॥
यह निःश्वास न उठता हा कर,
बनता मेरा राग न रोग।
मिला न हा इतना भी योग,

गुप्तजी ने प्रकृति-वर्णन भी किया है। कल्पना क्षेत्र उतना अधिक विस्तृत न होने से प्रकृति-वर्णन उनकी रचनाओं में कम मिलता है और जैसा कि साहित्यदर्पण में महाकाव्य में प्रकृति वर्णन का होना आवश्यक समझा गया है वैसी प्रकृति वर्णन की बाहुल्यता गुप्तजी की रचनाओं में नहीं है। तो भी कहीं-कहीं प्रकृति का मनोहर चित्रण उन्होंने किया है। प्रकृति वर्णन का उदाहरण देखिए :—

सखि निरख नदी की धारा,
ढलमल-ढलमल चंचल अचल, झलमल-झलमल तारा।
निर्मल जल अंतस्तल भर के।
उछल-उछल कर, छल-छल करके॥
थलथल तरके, कल-कल धर के
बिखराता है पारा।
सखि निरख नदी की धारा।

गुप्तजी की कृतियों में कल्पना से अधिक अनुभूति की प्रधानता है।

सौंदर्य वर्णन भी उन्होंने कुशलता से किया है और नारी सौंदर्य का चित्रण बड़ा ही कलापूर्ण किया है:—

ये चांचल्य विहीन लोचन खुले सौंदर्य के सद्म यों,
पीते थे मकरंद भृंग सुख से पाके खिले पद्म यों।
था ऐसा वपु वंदनीय उसका स्वर्गीय शोभा सना,
मानों लेकर सार भाग शशि का हो मार द्वारा बना।

गुप्तजी की कृतियों में विप्रलंभ शृंगार, करुण, वीर और शांत रस की व्यंजना बड़ी कुशलता से हुई है। 'झंकार' के गीतों में रहस्यवाद की झलक भी है। इस प्रकार गुप्त जी एक कुशल महाकवि हैं और हिन्दी साहित्य उनका चिरऋणी है। काव्य के सम्बन्ध में गुप्त जी का जो यह मत है:—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी कर्म होना चाहिए॥

वह उनकी रचनाओं द्वारा सत्य भी प्रमाणित हुआ है। 'भारतभारती' में जैसा कि उन्होंने लिखा है:—

मानस भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती।
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती॥

वास्तव में श्री मैथिलीशरण गुप्त को वैसी ही लोक प्रियता प्राप्त हुई है। श्रीनंददुलारे वाजपेयी ने उचित ही लिखा है—"मैथिलीशरणजी हिंदी के इस युग के पहले कवि हैं जिन्होंने कविता की ज्योति समय, समाज और आत्मा के भीतर देखी है, जिन्होंने नये काव्य-धारा की अबाध-गति से हिन्दी-समाज को अभिसंचित किया है।"

से विचलित नहीं हुआ। विवाह के योग्य अपनी अवस्था होने पर भी उसने एक पत्नीव्रत का नियम अपनाया और दूसरा विवाह न किया।

निरालाजी का जीवन संघर्षमय ही रहा और उन्हें जीवन भर आर्थिक कष्ट उठाना पड़ा। निरालाजी की प्रारंभिक रचनाओं को पत्रों ने प्रकाशित नहीं किया। 'जूही की कली' जैसी प्रसिद्ध रचनाएँ भी पत्र-संपादकों द्वारा वापिस कर दी गईं थी और इस प्रकार इस ज्वलंत प्रतिभा को प्रकाश में आने में समय लगा। सन् १९२३ में निरालाजी ने 'मतवाला' का सम्पादन किया और इसी बीच निराला उपनाम से उन्होंने काव्य रचना प्रारंभ की। अपनी वापिस लौटी हुई रचनाओं का उल्लेख करते हुए उन्होंने एक स्थल पर लिखा है :—

लौटी रचना लेकर उदास
ताकता हुआ मैं दिशाकाश
बैठा प्रांतर में दीर्घ प्रहर
व्यतीत करता था गुनगुनकर
सम्पादक के गुण; यथाभ्यास
पास की नोंचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर-उधर
भाव की चढ़ी पूजाओं पर।

निरालाजी का जीवन कष्टों से पूर्ण रहा है। बीस वर्ष की होते-होते इनकी सुपुत्री सरोज ने भी इहलोक का परित्याग कर दिया जिसका वियोग कवि को बड़ा ही कष्टप्रद प्रतीत हुआ। निरालाजी ने उसके वियोग में 'सरोज' स्मृति' नामक कविता लिखी भी है। निरालाजी स्वभाव से ही मिलनसार और सहनशील हैं। इस पूंजीवाद समाज में वे भी शोषित ही कहे जावेंगे। निरालाजी ने जिन पत्रों में (मतवाला को छोड़कर) काम किया उनके मालिकों ने तथा प्रकाशकों ने भी उनका काफ़ी शोषण किया है। कष्ट पूर्ण जीवन व्यतीत करने पर भी उन्होंने अपनी गृहस्थी की ओर भी बराबर ध्यान दिया है। निरालाजी

उदार भी हैं और प्राय: इन्हें जो कुछ मिलता है वे दूसरों को दे डालते हैं। इस प्रकार संघर्षमय जीवन होते हुए भी हिंदी साहित्य की जो सेवा उन्होंने की है, उसे हिंदी साहित्य का सौभाग्य ही मानना होगा। अनामिका, परिमल, तुलसीदास, गीतिका नये पत्ते और अपरा इनकी काव्य कृतियाँ हैं; प्रभावती, अप्सरा, अलका तथा निरुपमा इनके उपन्यास हैं और सखी तथा लिली में इनकी कहानियाँ संगठित हैं। कुल्ली भाट, सुकुल की बीवी और बिल्लेश्वर बकरिहा हास्यरसपूर्ण रचनाएँ हैं। इनके विचार पूर्ण गवेषणात्मक निबंध प्रबंध-पद्य और रवींद्र-कविता-कानन में हैं। इन्होंने कई ग्रंथों का सफल अनुवाद भी किया है। निरालाजी अपने निराले छंद के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद तीनों धाराएँ इनकी कृतियों में देख पड़ती हैं।

भाषा

निरालाजी की भाषा खड़ी बोली ही है। संस्कृत का प्रभाव कहीं-कहीं निराला की भाषा पर अधिकाधिक पड़ा है। 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' में संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है और कहीं-कहीं भाषा प्रियप्रवास से भी अधिक संस्कृत गर्भित-सी जान पड़ती है:—

> आज का, तीक्ष्ण-शर विधृत-क्षिप्र-कर, वेग-प्रखर,
> शत शेल-सम्वरणशील, नीलनभ-गर्जित-स्वर,
> प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह, भेद-कौशल-समूह,—
> राक्षस-विरुद्ध प्रत्यूह, क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
> विच्छुरित वह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
> लोहित, लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
> राघव - लाघव - रावण - वारण, गत-युग्म-प्रहर,
> उद्धत-लंकापति-मर्दित-कपि-दल - बल-विस्तर,

अनिमेष-राम-विश्वजिद्दिव्य-शर-शर-भङ्ग-भाव,—
विद्धांग- बद्ध- कोदण्ड-मुष्टि-खर - रुधिर - स्राव,

इस प्रकार की दुर्बोध और क्लिष्ट भाषा निरालाजी की रचनाओं में बहुत कम स्थलों पर देख पड़ती है और प्रायः कवि ने शुद्ध खड़ी बोली का ही प्रयोग किया है। निरालाजी की भाषा प्रवाहमय है और प्रायः कोमलकांत तथा सरल और सरस शब्द योजना ही इनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होती है :—

कहाँ ?—
मेरा अधिवास कहाँ ?
क्या कहा !—'रुकती है गति जहाँ ?'
भला इस गति का शेष—
सम्भव क्या है—
करुण स्वर का जब तक मुझमें रहता आवेश ?
मैंने 'मैं' शैली अपनाई
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
झट उमड़ वेदना आई.... .... ।

निरालाजी की भाषा भावानुगामिनी ही है। भावों के अनुरूप ही शब्दचयन किया गया है। 'जूही की कली' में कवि ने जब समीर की तीव्र गति का वर्णन किया है तब ह्रस्व वर्णों का प्रयोग किया है और इस प्रकार समीर को प्रवाहित होने का चित्र-सा नेत्रों के सम्मुख खिंच जाता है :—

फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित-गहन-गिरि-कानन
कुंज-लता-पुंजों को पार कर
पहुँचा—

निरालाजी का शब्दचयन निस्संदेह ही सराहनीय है। निरालाजी की भाषा ने उर्दू के शब्दों को भी आत्मसात कर लिया है। उर्दू शब्दों का ही नहीं प्रतीकों का भी स्वच्छंदता से उन्होंने प्रयोग किया है। जैसे—'जलती अंधकारमय जीवन की वह एक शमा है' में शमा का प्रयोग बड़ा ही सुंदर किया गया है। जिस प्रकार सूर ने ब्रजभाषा को सर्वमान्य साहित्यिक भाषा बनाने का प्रयत्न किया है उसी प्रकार निराला ने खड़ी बोली को सर्वमान्य साहित्यिक भाषा बनाने का प्रयत्न किया है। निरालाजी की भाषा में मुहावरों का भी सफल प्रयोग हुआ है। मुहावरों की ऐसी बाहुल्यता गुप्तजी और प्रसादजी की रचनाओं में नहीं है। अलंकार भी इनकी भाषा में घुलमिल से गए हैं। शब्दालंकारों का प्रयोग तो है ही पर रूपक और उपमा की अधिकता-सी है। सौंदर्य वर्णन में निराला ने अलंकारों की भी सहायता ली है। निम्नांकित पंक्ति में उपमा का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है :—

मोतियों की मानो हैं लड़ी।
विजय के वीर हृदय पर पड़ी॥

निरालाजी की भाषा में प्रसाद और मधुरता के साथ-साथ ओज भी है। निरालाजी का काव्य पौरुष प्रधान होने के कारण कहीं-कहीं ओज की अधिकता भी हो गई है। इस प्रकार निराला की भाषा निस्संदेह उत्तम भाषा कही जा सकती है। जैसा कि हम प्रारम्भ में ही लिख चुके हैं कहीं-कहीं निराला की भाषा जटिल, दुरूह और दुर्बोध हो गई है नहीं तो प्रायः सर्वत्र ही सुकोमल शब्दावली देख पड़ती है। भाषा सौंदर्य का एक उदाहरण और देखिए :—

अलि, घिर आये घन पावस के।
लख ये काले-काले बादल,
नील-सिन्धु में खुले कमल-दल,
हरित ज्योति, चपला अति चंचल,
सौरभ के, रस के—

③ कवित्व

(निरालाजी युग-प्रवर्तक कवि हैं। हिंदी में मुक्त छंदों का प्रयोग करने का श्रेय उन्हें ही है। साहित्य की पुरातन प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह प्रदर्शित कर काव्य को रूढ़िगत बंधनों से मुक्त करने का श्रेय भी उन्हें ही है।) यह अवश्य है कि उनके इस विद्रोह का बड़े-बड़े साहित्यकारों ने विरोध किया परंतु निरालाजी की प्रणाली आज भी चल रही है और कई कवियों ने मुक्त छंद को अपनाया। यद्यपि वे उपन्यासकार, कहानी लेखक और समीक्षक भी हैं परंतु प्रधानतया वे कवि ही हैं। संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक समीप लाने का प्रयास उन्होंने ही किया। गीति काव्य में उनकी काव्य कला निखर-सी उठी है। निराला के गीतों को देखते हुए कहा जा सकता है कि इनका संगीत अँग्रेज़ी संगीत से प्रभावित-सा था। निरालाजी का स्वयं मत है—"राग-रागिनियों में भी स्वतंत्रता ली गई है। भाव प्रकाशन के अनुकूल उनमें स्वर-विशेष लगाये गये हैं—उनका शुद्ध रूप मिश्रित हो गया है। यह प्रकाशनवाला बोध पश्चिमी संगीतबोध के अनुसार है।" निरालाजी का अपने संगीत के विषय में कथन है—("जो संगीत कोमल, मधुर और उच्च भाव, तदनुकूल भाषा और प्रकाशन से व्यक्त होता है, उसके साफल्य की मैंने कोशिश की है। ताल प्रायः सभी प्रचलित हैं। प्राचीन ढंग रहने पर भी वे नवीन कण्ठ से नया रंग पैदा करेंगी।") निराला का 'बादल राग' देखिए :—

"झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
झर-झर-झर निर्झर - गिरि - सर में,
घर, मरु-तरु, मर्मर, सागर में,
सरित - तड़ित - गति - चकित पवन में,
मन में, विजन - गहन कानन में,

आनन-आनन में, रव-घोर-कठोर—
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !'

निराला सौंदर्योपासक कवि हैं। सौंदर्य चित्रण में उन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। यद्यपि उनका काव्य पौरुष प्रधान कहा जाता है पर प्रकृति वर्णन भी उन्होंने अधिकाधिक किया है। निरालाजी ने प्राकृतिक वस्तु के रूप, भाव और वातावरण को लेकर प्रकृति का बड़ा ही सुंदर मूर्तिमान स्वरूप अंकित किया है। इस प्रकार का प्रकृति चित्रण बहुत कम कवियों ने किया है। 'संध्या सुंदरी' का मनोहर वर्णन देखिए, जिसमें संध्या सुंदरी मानव-रूप के सदृश्य दीख पड़ती है :—

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुंदरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर—
किंतु जरा गम्भीर—नहीं है उनमें हास-विलास :
हँसता है तो केवल तारा एक,
गुंथा हुआ उन घुंघराले काले बालों से
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की सी लता
किंतु कोमलता की वह कली—
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर पथ से चली।

इसी प्रकार 'शेफालिका' में कवि ने शेफाली के वासनामय सौंदर्य का मनोहर चित्रण किया है :—

"बन्द कंचुकी के सब खोल दिए प्यार से
यौवन उभार ने
पल्लव - पर्यंक पर सोती शेफालि के।
मूक - आह्वान - भरे लालसी कपोलों के
व्यांकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के॥"

(निराला ने रूप वर्णन भी कलापूर्ण किया है। निराला का नारी सौंदर्य वर्णन कहीं-कहीं बड़ा ही हृदयग्राही बन पड़ा है। यद्यपि निरालाजी ने शृंगार वर्णन में कहीं-कहीं नग्न चित्र भी प्रस्तुत किए हैं परन्तु उनमें अश्लीलता का समावेश नहीं है। 'जूही की कली' ऐसी ही रचनाओं में है। शृंगार-वर्णन के साथ-साथ कवि की चित्रोपम कला का परिचय भी इस कविता से मिलता है।)(छायावादी कवियों ने जहाँ केवल शृंगार और करुण रस का ही वर्णन किया है वहाँ निरालाजी ने प्रायः समस्त रसों की व्यंजना की है) कहीं-कहीं वीर और रौद्र की बड़ी ही सुदृढ़ व्यंजना है। निरालाजी का भावजगत विस्तृत है तथा नूतन नूतन भावों की व्यंजना में वे पूर्ण सफल रहे हैं।(रहस्यवाद और छायावाद के साथ-साथ उनकी कविताओं में दार्शनिकता भी है। निरालाजी भारतीय परम्परागत अद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं और इसलिए कहीं-कहीं दार्शनिकता का समावेश इतना अधिक उनकी कविताओं में हो गया है कि उनकी गहन विचारधारा पाठकों के लिए नितान्त अस्पष्ट और दुर्बोध सी जान पड़ती है। परन्तु ऐसे स्थलों का अभाव नहीं है जहाँ कल्पना, भावुकता, सरलता और मधुरता का समावेश है। कहीं-कहीं मानसिक व्यथाओं का कवि ने हृदयस्पर्शी चित्रण किया है। संयोग और वियोग के चित्रों में अंतःकरण की झाँकी प्रदर्शित की गई है)। एक भावुकतापूर्ण चित्र देखिए:—

"मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु,
क्या करुणाकर खिल न सकेगा ?"

प्रसाद और निराला के गीतों में आश्चर्यजनक समता है। सौंदर्यानुभूति, निराशा और आशा की आँखमिचौनी, संयोग और विरह आदि दोनों के गीतों के प्रधान विषय हैं। परन्तु निरालाजी दार्शनिक पहले हैं और कवि बाद में इसलिये कवित्व से अधिक उनके गीतों में दार्शनिकता है परन्तु प्रसादजी में कवित्व की प्रधानता है। पंत के गीति काव्य के भी प्रायः यही विषय हैं तथा भाषा की मृदुलता के कारण कहीं-कहीं निराला से अधिक सफलता उन्हें मिली है परन्तु कलापक्ष निरालाजी का ही सुदृढ़ है। महादेवी वर्मा के गीतों में दुःखवाद की ही प्रधानता है और इस प्रकार कहीं-कहीं कोमल वृत्तियों का चित्रण उन्होंने निराला से अधिक किया है परन्तु निराला ने भावानुभूति, कल्पना और संगीत का सहज सामंजस्य गीतों में प्रस्तुत कर अपने गीति काव्य को उत्कृष्ट सा बना दिया है। इस प्रकार हिंदी गीति-काव्य के वे अमर कलाकार हैं।

('राम की शक्ति पूजा' में प्रबन्ध शैली का आश्रय लिया गया है। निराला ने भावनाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण इस कविता में किया है और इस प्रकार निस्संदेह ही यह उनकी प्रौढ़ रचना है जो कवि के काव्यत्व के चरम विकास की द्योतक है। 'तुलसीदास' भी एक सफल खंड काव्य है, जिसमें नारी के अंतःकरण का कलापूर्ण चित्रण है। 'तुलसीदास' में मनोवैज्ञानिक समस्याओं का भी समावेश है; इस प्रकार कवि को इस भावनाओं के मनोवैज्ञानिक चित्रण में पूर्ण सफल देखते हैं।)

(निराला का रहस्यवाद उपनिषदों के सिद्धान्तों पर आश्रित है जिनके अनुसार ईश्वर को सर्वव्यापी माना गया है।) निम्नांकित अवतरण में कवि ईश्वर को सभी स्थानों में व्याप्त देखता है :—

५ भर देते हो,

वार-वार प्रिय, करुणा की किरणों से

क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।

मेरे अन्तर में आते हो देव निरन्तर,

कर जाते हो व्यथा - भार लघु

बार - बार कर कंज बढ़ाकर

अंधकार में मेरा रोदन

सिक्त धरा के अंचल को

करता है क्षण-क्षण—

कुसुम कपोलों पर वह लोल शिशिर-कण;

तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो;

नव प्रभात जीवन में भर देते हो।

जिस प्रकार छंदों के बंधन कवि को अरुचिकर थे, उसी प्रकार सामाजिक बंधन भी। एडवर्ड अष्टम को उन्होंने एक ऐसे वीर के रूप में चित्रित किया है जिसने प्रेम के ही कारण साहस के साथ राज्यसिंहासन तक को त्याग दिया। निराला में सामाजिक सुधारों की भावनाएँ भी थीं। कविने भारत की विधवा के प्रति भी अश्रु प्रवाहित किए हैं और विधवा का चित्र इस प्रकार अंकित किया है :—

वह इष्ट - देव के मंदिर की पूजा सी

वह दीप-शिखा सी शांत, भाव में लीन

वह क्रूर-काल-तांडव की स्मृति-रेखा सी

वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन

दलित भारत की विधवा है।

कवि ने एक स्थल पर समाज में प्रचलित ढोंग का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया है जहाँ एक पुजारी ने बंदरों को तो मालपुवा आदि मिठाई खिलाई और एक भिक्षुक की ओर देखा तक नहीं। कवि ने श्रमजीवियों के प्रति भी अनुराग प्रदर्शित किया है और इलाहाबाद

सुमित्रानंदन पंत

परिचय

सुमित्रानंदन पंत का जन्म सं० १६५७ में कौसानी जिला अल्मोड़ा में हुआ था। पंतजी के पिता का नाम श्रीगंगादत्त पंत था जोकि बड़े ही धर्मप्रिय और आचारवान् पुरुष थे। सात वर्ष की ही अवस्था से पंतजी ग्राम की पाठशाला में पढ़ने लगे थे और बारह वर्ष की अवस्था में अल्मोड़ा के सरकारी स्कूल में अँग्रेज़ी पढ़ने लगे। सन् १६१६ में इन्होंने हाई स्कूल की परीक्षा पास की और प्रयाग के म्योर सेंट्रल कालेज में भर्ती हुए परंतु सन् १६२० में सेकेंडइयर से पढ़ना छोड़ दिया और स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने लगे। परंतु स्कूली ज्ञान के अतिरिक्त पंतजी को हिंदी, अँग्रेज़ी, संस्कृत और बँगला का अच्छा ज्ञान है। इनका स्वभाव भी बड़ा सुंदर और मिलनसार है।

बाल्यावस्था से ही कविता की ओर इनकी रुचि थी। कौसानी के प्रकृति सौंदर्य से मुग्ध हो ये काव्य सृजन की ओर प्रेरित हुए। पंतजी के ही शब्दों में—"कविता बनने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था; और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँख मूँदकर लेटता था, तो वह दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँखों के सामने घूमा करता था।" सन् १६१५ में इन्होंने 'हार' नामक एक बड़ा सुंदर उपन्यास लिखा जिसकी

पांडुलिपि नागरी प्रचारिणी सभा काशी में सुरक्षित है। इसी बीच ये हिंदी में कविताएँ भी रचने लगे थे। वीणा और उच्छ्वास इनकी प्रारंभिक कृतियाँ हैं। सन् १९२६ में इनका एक कविता संग्रह 'पल्लव' प्रकाशित हुआ जिसने इन्हें हिंदी के प्रसिद्ध कवियों में प्रतिष्ठित कर दिया। पंतजी हिंदी काव्य की नई धारा के प्रवर्तकों में गिने जाते हैं। छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद तीनों धाराएँ इनकी कृतियों में प्रवाहित हो रही हैं। वीणा, ग्रंथि, गुंजन, पल्लव, युगांत, ग्राम्या, युग-वाणी, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि और उत्तरा इनकी काव्य कृतियाँ हैं। 'ज्योत्सना' इनका एक रूपक है और 'पाँच कहानियाँ' नामक एक संग्रह इनकी कहानियों का भी प्रकाशित हो चुका है। आधुनिक कवियों में पंतजी को आशातीत लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

भाषा

उन्नीसवीं शताब्दी में खड़ी बोली गद्य की भाषा हो चुकी थी और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते वह कविता की भाषा भी हो गई। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत होगा कि हिंदी साहित्य के प्रत्येक काल में खड़ी बोली में कुछ न कुछ कविताएँ लिखी जाती रहीं परंतु ब्रजभाषा रूपी वारिदों ने खड़ी बोली रूपी सुधाकर को इस प्रकार से ढाँक लिया था कि उसकी रश्मियाँ चारों ओर फैल न सकीं और ब्रज-भाषा के प्रेमी उसकी उपेक्षा-सी करते रहे। भारतेंदु के समय से खड़ी बोली को काव्य भाषा का स्थान प्राप्त हुआ। परन्तु अभी भी वह विकसित न हो पा रही थी। खड़ी बोली का शब्दभंडार इतना अधिक सीमित था कि जब बीसवीं शताब्दी में काव्य के विषय, उपादान, रूप और शैली में एक प्रकार की क्रांति-सी हुई तथा आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए तब यह सीमित शब्द भंडार तुच्छ-सा जान पड़ा। यद्यपि खड़ी बोली में कई प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवि हुए परंतु भाषा में वह समृद्धि न आ सकी जोकि काव्य भाषा के हेतु परमावश्यकीय थी। भारतेंदु की भाषा

कहीं-कहीं तो पूर्णतः अरबी, फ़ारसी के शब्दों से परिपूर्ण उर्दू ही हो गई है या फिर उसमें वह लड़खड़ाती हुई चली है। भारतेंदु के समसामयिक कवियों की भाषा में यह लड़खड़ाहट स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। पं० श्रीधर पाठक जैसे प्रसिद्ध कवि की भाषा में भी अस्त व्यस्तता है। हरिऔधजी की भाषा में दुरंगापन है ; यह हम पहले ही लिख चुके हैं। गुप्तजी की भाषा सरल खड़ी बोली है। इस प्रकार खड़ी बोली के इस संकुचित शब्द भंडार को पूर्ण करने के हेतु ऐसे कवि का प्रादुर्भाव हुआ जिसने कि खड़ी बोली में ब्रजभाषा की-सी बल्कि ब्रजभाषा से भी अधिकतर मधुरिमा ला दी और खड़ी बोली को सर्वदा के लिए अमर कर दिया। sound music

पंतजी ने एक समृद्ध भाषा शैली का विकास किया जिसमें संस्कृत के तत्सम तथा ध्वनि-व्यंजक शब्दों की प्रधानता है। इन्होंने चमत्कार पूर्ण, आलोकमय विशेषणों और चित्रमय तथा ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग अपनी भाषा में किया है। पंतजी का शब्द चयन निस्संदेह प्रशंसनीय है। पंतजी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों को अधिकाधिक ग्रहण किया है और कहीं-कहीं भाषा संस्कृत गर्भित-सी प्रतीत होती है। पंतजी ने ब्रजभाषा के दीठ, दई और काजर-कारे ; तथा फ़ारसी के नादान जैसे शब्दों को अपनाया है। पंतजी ने अँग्रेज़ी के रूम इत्यादि शब्दों को तो अपनाया ही है परंतु अँग्रेज़ी शब्दों और मुहावरों को भी रूपांतरित किया है तथा उनके आधार पर शब्द भी निर्मित किए हैं। Golden age का 'सुवर्ण काल' Golden touch का 'सुनहले स्पर्श' Innocent का अजान, Dreamy Smile का 'स्वप्निल मुसकान' Underline का 'रेखांकित' तथा Broken heaat का 'भग्न हृदय' ; इस अँग्रेज़ी शब्दों और मुहावरों को रूपांतरित कर प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार पंत का शब्द-चयन विस्तृत है और उन्होंने अपनी भाषा की व्यंजना शक्ति को बढ़ाया है।

पंतजी की भाषा की द्वितीय विशेषता यह है कि नूतन-नूतन शब्दों का उन्होंने अपनी भाषा में प्रयोग किया है। ये नए शब्द या तो विशेषण और भाववाचक संज्ञा के रूप में आए हैं अथवा ध्वन्यार्थ व्यंजन के रूप में। इस प्रकार कोमलकांत पदावली पंतजी की भाषा में दृष्टिगोचर होती है तथा स्पंदन, उल्लास, लाल-हिलोर, मुखरित, कलकल, छलछल, कसक, गुंजन, कसकती, हहर हहर, हिलोर, छलकना जैसे कई नूतन-नूतन शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है और खड़ी बोली के शब्द भंडार की वृद्धि की है।

पंतजी की भाषा प्रसंगानुकूल है। उन्होंने इस प्रकार की शब्द योजना की है कि पदावली का अर्थ शब्दों के नाद से ही प्रतिध्वनित हो उठता है। शब्द झंकृति के इस प्रकार के उदाहरणों की बाहुल्यता सी है :—

जगत की शत-कातर - चीत्कार,
बेधती बधिर ! तुम्हारे कान।
अश्रु-स्रोतों की अगणित - धार,
सींचती उर-पाषाण ॥
अरे क्षण - क्षण सौ सौ निःश्वास,
छा रहे जगती का आकाश।
चतुर्दिक घहर घहर आक्रान्ति,
ग्रस्त करती सुख - शान्ति ॥

पंतजी ने अनेक नूतन विशेषण हिन्दी तथा संस्कृत शब्दों से बनाए हैं। निम्नांकित चार पंक्तियों में छः विशेषणों का प्रयोग किया गया है और इसमें 'तम' का विशेषण 'अँगड़ाते' 'पलक' का 'अलसित' और 'स्वप्न' का 'स्वर्ण', 'नव' 'अलभ्य' और अज्ञात है।

अँगड़ाते तम में,
अलसित पलकों से स्वर्ण - स्वप्न नित

सजनि ! देखती हो तुम विस्मित
जब अलभ्य, अज्ञात ।

पंतजी ने विशेषण-विपर्यय का भी अत्याधिक प्रयोग किया है। इन विशेषण-विपर्यय के प्रयोगों से काव्यभाषा चित्रमय हो जाती है और उसकी अर्थ व्यंजकता की शक्ति बढ़ जाती है ।:—

कल्पना में है कसकती - वेदना
अश्रु में, जीता सिसकता-ज्ञान है

पंतजी की भाषा में लाक्षणिकता भी है। ब्रजभाषा के कवियों में घनआनन्द ने और खड़ी बोली के कवियों में पंतजी ने सर्वाधिक लाक्षणिक प्रयोग अपनी भाषा में किए हैं। पंत के दो लाक्षणिक प्रयोग देखिए :—

चाँदनी का स्वभाव में बास ।
विचारों में बच्चों की साँस ॥

और :—

धूल की ढेरी में अनजान ।
छिपे हैं मेरे मधुमय गान ॥

पंत की भाषा में अलंकारों का भी सफल प्रयोग हुआ है। 'ललित लोल उमंग-सी लावण्य की' जैसी अनुप्रासमयी पंक्तियाँ उनकी भाषा में हैं। उपमा, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास, यमक और रूपक के भी उदाहरण उनकी भाषा में हैं। इनके अतिरिक्त मानवीकरण नामक एक विदेशी अलंकार भी उनकी भाषा में हैं :—

कहो, कौन हो दमयंती-सी
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई ?

× × ×

तुम पथ-श्रांता द्रुपद-सुता-सी
कौन छिपी हो आलि ! अज्ञात
तुहिन अश्रुओं से निज गिनती
चौदह दुखद वर्ष दिन-रात ?

पंतजी ने मुहावरों और कहावतों का बहुत कम प्रयोग किया है। 'वारि पीकर पूछता है घर सदा' तथा 'आठ आँसू रोते-निरुपाय' जैसे मुहावरों का अवश्य प्रयोग किया गया है।

व्याकरण के दृष्टिकोण से अवश्य पंतजी की भाषा में कुछ दोष आ गए हैं क्योंकि पंतजी ने व्याकरण की लौह शृंखला की कुछ कड़ियों को तोड़ना चाहा है। पंतजी के ही शब्दों में—"मुझे अर्थ के अनुसार ही शब्दों को स्त्रीलिंग, पुल्लिंग मानना अधिक अच्छा लगता है। जो शब्द केवल अकारांत-इकारांत के अनुसार ही पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग हो गये हैं, और जिसमें लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य नहीं मिलता, उन शब्दों का ठीक-ठीक चित्र ही नहीं उतरता, और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुंठित-सी हो जाती है।" इस प्रकार पंतजी ने एक ही शब्द को कहीं तो स्त्रीलिंग के रूप में प्रयुक्त किया है और कहीं पुल्लिंग के रूप में। संस्कृत के संधि नियमों का भी इन्होंने उल्लंघन किया है और कर्त्ता के अनुसार क्रिया का लिंग भी निश्चित किया है। यह हो सकता है कि व्याकरण की दृष्टि से पंतजी की भाषा में इन प्रयोगों को दोष माना जावे परंतु यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि भाषा में कलात्मकता लाने के हेतु ही पंतजी ने ऐसा किया है।

इस प्रकार [illegible]जी की भाषा चित्र भाषा कही जावेगी और यह स्वीकार करना ही होगा कि उत्तम भाषा में जिन गुणों की आवश्यकता है वे सभी गुण पंतजी की भाषा में हैं। पंतजी ने ऐसे भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्दों का भी प्रयोग किया है जो संगीत भेद के ही कारण प्रसंगानुकूल एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं।

पंतजी ने खड़ी बोली की अरखराहट को दूरकर उसमें स्वाभाविक मधुरता ला दी और खड़ी बोली को समृद्ध किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीनगेंद्रजी ने पंतजी की भाषा के विषय में उचित ही लिखा है—"हमारा कवि भाषा का सूत्रधार है। भाषा उसके कलात्मक संकेत पर नाचती है। करुण शृंगार में यदि उसका उन्मन गुंजन सुनाई पड़ता है, तो वीर और भयानक में वह अग्निकण भी उगल सकती है। भाषा का इतना बड़ा विधायक हिंदी में कोई नहीं है—"

काव्य-सुषमा

जैसा कि हम प्रारंभ में ही लिख चुके हैं प्रकृति निरीक्षण से पंतजी को कविता की प्रेरणा मिली और इस प्रकार सौंदर्यात्मक अनुभूति ने उनकी भावनाओं को रंग-सा दिया है। पंतजी के शब्दों में—"मेरा विचार है कि वीणा से ग्राम्या तक मेरी सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौंदर्य का प्रेम किसी रूप में वर्तमान है। + + + प्रकृति निरीक्षण से मुझे अपनी भावनाओं की अभिव्यंजना में अधिक सहायता मिली है, कहीं उससे विचारों की भी प्रेरणा मिली है।" इस प्रकार प्रकृति वर्णन की बाहुल्यता सी उनकी कृतियों में है। पंतजी ने प्रकृति का चित्रण कई शैलियों में किया है। जिस प्रकार शिशु किसी नूतन और रम्य वस्तु को विलोक उत्फुल्लित-सा स्वाभाविक सरलता से अपना हर्ष व्यक्त करता है उसी प्रकार कुछ कवियों ने प्रकृति-निरीक्षण से उत्पन्न आनंदोद्रेक का चित्रण किया है। पंतजी को इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण में सर्वाधिक सफलता मिली है। उन्होंने अपनी कृतियों में कई स्थलों पर इस प्रकार का प्रकृति वर्णन किया है। पंतजी ने मानवीय भावनाओं और कार्यों की पृष्ठ भूमि के रूप में भी प्रकृति-चित्रण किया है। इस प्रकार का प्रकृति वर्णन प्रियप्रवास, पंचवटी, पथिक और कामायनी आदि में भी किया गया है। प्रकृति को उपमा या रूपक के रूप में भी कवि ने

चित्रित किया है। निराला के काव्य सौंदर्य पर विचार करते समय हम लिख चुके हैं कि उन्होंने प्रकृति-सौंदर्य को मानव रूप में प्रतीक की भाँति अंकित करने का प्रयत्न किया है। संध्या सुंदरी को उन्होंने नारी के रूप में चित्रित किया है। पंत ने भी इस प्रकार का प्रकृति-वर्णन किया है और प्रकृति को नारी के रूप में चित्रित किया है :—

खैंच ऐंचीला भ्रू-सुरचाप—
शैल की सुधि यों बारम्बार—
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल हार ;
जलद-पट से दिखला मुख-चंद्र,
पलक पलपल चपला के मार ;
भग्न उर पर भूधर-सा हाय !
सुमुखि, धर देती है साकार !

पंतजी ने प्रायः प्रकृति के सुंदर रूप का ही अत्याधिक चित्रण किया है परंतु 'परिवर्तन' में प्रकृति के उग्ररूप को भी चित्रित किया है। प्रकृति वर्णन के सदृश्य कवि को रूप-वर्णन में भी अद्वितीय सफलता मिली है। पंतजी ने प्रेम वर्णन भी किया है। 'ग्रंथि' उनका प्रेमाख्यानक काव्य है जिसमें विप्रलंभ शृंगार का समावेश है। यद्यपि 'ग्रंथि' में आरम्भ में संयोग-शृंगार की ही अभिव्यंजना है परंतु उसमें विप्रलंभ शृंगार की ही प्रधानता है। 'ग्रंथि' में मानस के उद्रेकों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। निराश-प्रेमी अपने हृदय की व्यथा को बड़े ही सुंदर ढंग से व्यक्त करता है—

शैवलिनि ! जाओ मिलो तुम सिंधु से,
अनिल ! आलिङ्गन करो तुम गगन को,
चंद्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ पवन-वीणा बजा,

पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है,
उठ किसी निर्जन विपिन में बैठकर,
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी,
भग्न भावी को डुबा दे आँख सी।

इस प्रकार हृदय की कसक का बड़ा ही कलापूर्ण चित्रण उन्होंने किया है। पंत ने विशेषकर करुण, शृंगार और शांत रस को ही अपनाया है पर 'परिवर्तन'-नामक उनकी कविता में वीर, भयानक और वीभत्स रसों का भी समावेश हुआ है। अतएव पंतजी रस व्यंजना में पूर्ण सफल देख पड़ते हैं।

(पंतजी का भाव जगत विस्तृत है। उनकी कल्पना शक्ति भी विलक्षण है तथा अपनी कल्पना शक्ति का अवलंब ले उन्होंने कहीं-कहीं बड़ी सुंदर भावव्यंजना की है। विभाव चित्रण में भी वे सफल रहे हैं और उनकी चित्रण कला ने कहीं-कहीं बड़े सुंदर चित्र प्रस्तुत किए हैं। सौंदर्य के कवि पंत की विचारधारा शनैः-शनैः परिवर्तित भी हुई। दर्शन शास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन के फल स्वरूप उनकी विचारधारा में परिवर्तन भी हुआ) उनकी 'परिवर्तन' कविता में स्पष्ट ही यह परिवर्तन देख पड़ता है। जीवन की क्षणभंगुरता का भी उन्होंने चित्रण किया है :—

खोलता इधर जन्म लोचन,
मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण।

इसी प्रकार जीवन में होनेवाले परिवर्तनों पर भी उनकी दृष्टि गई है और वे कहते हैं :—

प्रात ही तो कहलाई मात,
पयोधर बने उरोज उदार,
मधुर उर-इच्छा को अज्ञात
प्रथम ही मिला मृदुल-आकार;

छिन गया हाय ! गोद का बाल
गड़ी है बिना बाल की नाल ।

अभी तो मुकुट बँधा था माथ,
हुए कल ही हलदी के हाथ ;
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले भी चुम्बन-शून्य कपोल ;

हाय ! रुक गया यहीं संसार
बना सिंदूर अँगार !
वात-हत-लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार !!

'परिवर्तन' की महानता को देखते हुए निरालाजी ने उचित ही लिखा है—"परिवर्तन किसी भी बड़े कवि की कविता से निस्संकोच मैत्री कर सकता है।"

'गुन्जन' में पंतजी सुंदरम् से अधिक शिवम् की ओर आकर्षित हुए और अब उनकी कविताओं में विश्वमंगल की भावना की अभिव्यंजना होने लगी। 'युगान्त' में कवि ने सौंदर्य युग का अंत-सा कर दिया है। 'युगांत' में महात्मा गांधी के सिद्धांतों और कृत्यों का भी बड़ा सुंदर वर्णन है। 'युगवाणी' में कवि ने प्रगतिवादी भावनाओं को चित्रित किया है 'युगवाणी' में कवि ने आधुनिक जीवन के कुछ सिद्धांतों की भी व्याख्या की है और स्पष्टतः दिखलाना चाहा है कि साम्राज्यवाद के नाश होने पर ही जनयुग का प्रादुर्भाव हो सकता है। श्रमिक वर्ग के प्रति भी कवि ने सहानुभूति दिखलाई है। सच्चा सुख और सच्ची शांति तभी प्राप्त हो सकती है जब—

श्रेणि-वर्ग में मानव नहीं विभाजित
धन-बल से हो जहाँ न जन-श्रम शोषण
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन ।

सामाजिक बंधनों के प्रति भी कवि ने अरुचि प्रदर्शित की है। 'ग्राम्या' में कवि ने ग्राम-जीवन के कई सहानुभूतिपूर्ण हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत किए हैं। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्णधूलि' में आध्यात्मिकता का समावेश है।

इस प्रकार हम पंत जी को प्रगतिवादी बल्कि अधिक सुंदर है कि स्वच्छंदता वादी कवि कहें। छायावाद और रहस्यवाद का चित्रण करते-करते वे प्रगतिवाद की ओर मुड़े और अब उनकी कविता में स्वाभाविकता अधिक देख पड़ने लगी। पंत जी ने मानव जीवन की वर्तमान दशा के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की है और प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को नष्टकर नूतनता लाने का प्रयत्न किया है। जो नवजीवन के उपयुक्त नहीं है उसके प्रति उनके विचार हैं :—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र।
हे त्रस्त, ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, मधु-वात-भीत,
तुम वीत-राग, जड़ पुराचीन !

अतएव वे चाहते हैं कि मानव प्राचीन युग की रूढ़ियों को नष्ट भ्रष्ट करदे : –

गर्जन कर मानव-केसरि !
प्रखर नखर नव जीवन की लालसा गड़ा कर।
छिन्न भिन्न कर दे गत युग के शव को दुर्धर॥

पंत ने नारी की वर्तमान दुरावस्था के प्रति सहानुभूति भी प्रदर्शित की है। 'पतिता' नामक कविता में यद्यपि नारी की यह दशा कर दी गई :—

क्रूर लुटेरे हत्यारे कर गये
बहू को नीच कलङ्कित।
और, फूटा करम, धरम भी लूटा
शीप हिला रोते सब परिजन,

हा अभागिनी ! हा कलङ्किनी !
खिसक रहे गा गाकर पुरजन !

परंतु उसके पति ने उसकी उपेक्षा न की और उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। उसने अपनी पत्नी से कहा :—

मन से होते मनुज कलंकित
रज की देह सदा से कलुषित
प्रेम पतित पावन है, तुमको
रहने दूँगा मैं न कलंकित

इस प्रकार पंत जी की विचारधारा प्रशंसनीय कही जा सकती है। काव्यकला की दृष्टि से विचार करने पर भी पंत जी एक सफल कवि प्रतीत होते हैं। (गीतिकाव्य को भी उन्होंने अलंकृत किया है और गीतिकाव्य में तो उनका आदरणीय स्थान है ही। कल्पना, अनुभूति, भावुकता और गहन, विचारधारा ने पंतजी के काव्य सौंदर्य पर चार चाँद से लगा दिए हैं। वास्तव में पंत जी हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध लोकप्रिय कवियों में से हैं।)

महादेवी वर्मा

परिचय

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म सं० १९६४ वि० में फर्रुखाबाद में हुआ। इनके पिता का नाम बाबू गोविंदप्रसाद वर्मा और माता का हेमरानी देवी था। श्री महादेवी वर्मा के शब्दों में—"एक ओर साधनापूत, आस्तिक और भावुक माता और दूसरी ओर सब प्रकार की साम्प्रदायिकता से दूर, कर्मनिष्ठ और दार्शनिक पिता ने अपने अपने संस्कार देकर मेरे जीवन को जैसा विकास दिया उसमें भावुकता बुद्धि के कठोर धरातल पर, साधना एक व्यापक दार्शनिकता पर और आस्तिकता एक सक्रिय पर किसी वर्ग या संप्रदाय में न बँधनेवाली चेतना पर ही स्थित हो सकती थी।" बाबू गोविंदप्रसाद जी ने अपनी सुपुत्री की शिक्षा की ओर पूर्ण ध्यान दिया और यही कारण है कि ये उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकीं। ग्यारह वर्ष की ही अवस्था में इनका विवाह डा० स्वरूप नारायण वर्मा के साथ हो जाने के कारण कुछ वर्षों तक इनकी शिक्षा बंद सी रही क्योंकि इनके श्वसुर स्त्री शिक्षा के पक्षपाती न थे परंतु उनके देहांत के पश्चात ये अध्ययन के हेतु प्रयाग पहुँचीं और संवत् १९७७ में मिडिल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इन्होंने बी० ए० की परीक्षा में अंग्रेज़ी के अतिरिक्त संस्कृत और दर्शन नामक विषय लिए थे तथा एम० ए० की परीक्षा संस्कृत विषय में दी। सन १९३३ में संस्कृत में एम० ए० पास करने के उपरांत ये प्रयाग के महिला-विद्यापीठ में आचार्या के पद पर नियुक्त हुईं।

कविता की ओर इनकी बाल्यकाल से ही रुचि थी। इनकी माता स्वयं ही पदरचना भी किया करती थीं तथा पूजा, आरती के समय तुलसी, सूर और मीरा के पद गाया भी करती थीं। इस प्रकार ये सर्वप्रथम ब्रजभाषा की ओर आकर्षित हुईं और पद रचना तथा समस्या-पूर्तियाँ करने लगीं। परंतु अब शनैः शनैः ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया था और खड़ी बोली के इस बढ़ते हुए प्रभाव को लखकर ये भी खड़ी बोली की ओर आकर्षित हुईं। प्रारंभ में रोला और हरगीतिका छंदों में कुछ तुकबंदियाँ लिखीं फिर एक सी छंदों में एक खंडकाव्य लिखा किन्तु उस समय इन्हें कविता लिखकर और उसे नष्ट कर देने में ही आनंद आता था। परंतु सुधाकर भला कब तक बादलों में छिपा रह सकता है। शनैः शनैः पत्र-पत्रिकाओं में इनकी रचनाएँ प्रकाशित हुईं और इन्होंने हिंदी काव्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया। इनकी प्रारंभिक रचनाएँ 'चाँद' में प्रकाशित हुई थीं। कुछ वर्षों तक ये 'चाँद' की सम्पादिका भी रह चुकी हैं।

इनकी कविताओं के 'नीहार,' 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सांध्यगीत' नामक चार संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इन चारों कविता संग्रहों का एकीकरण 'यामा' नाम से प्रकाशित हो चुका है। 'दीपशिखा' इनका एक और कविता संग्रह है जिसमें कविताएँ चित्रों पर ही लिखी गई हैं। इन चित्रों को देखते हुए यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि ये कुशल कवि के साथ साथ कुशल चित्रकार भी हैं। 'अतीत के चल चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नामक दो संग्रहों में इनकी कहानियाँ संकलित हैं। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' में इनके स्फुट निबंध संकलित हैं। 'आधुनिक कवि' प्रथम भाग और दीपशिखा की भूमिका से इनकी चिंतन शीलता और विचार-गंभीरता का परिचय मिलता है।

श्री महादेवी वर्मा ने प्रयाग में साहित्यकार-संसद नामक एक संस्था का निर्माण किया है जो कि हिंदी-साहित्यकारों को सभी प्रकार से

सहायता दे रही है। आशा है, अभी वे और भी अधिक हिंदी साहित्य की सेवा करेंगी।

भाषा

श्री महादेवी वर्मा की भाषा खड़ी बोली ही है। संस्कृत का गहन अध्ययन होने के कारण इनका शब्द-चयन अत्यंत प्रशंसनीय है। संस्कृत शब्दावली का प्रयोग करने पर भी इनकी भाषा कहीं भी 'प्रियप्रवास' के सदृश्य संधि-समास-युक्त और संस्कृत-गर्भित नहीं है बल्कि स्वाभाविक और सरल ही है। इनकी शब्द योजना को देखते हुए इन्हें शब्दशिल्पी कहना उचित ही है :—

अवनि-अम्बर की रुपहली सीप में,
तरल मोती सा जलधि जब काँपता,
तैरते घन मृदुल हिम के पुञ्ज से,
ज्योत्सना के रजत पारावार में,
सुरभि वन जो थपकियाँ देता मुझे,
नींद के उच्छ्वास सा, वह कौन है ?

और भी—

दुख से आविल सुख से पंकिल,
बुद्बुद् से स्वप्नों से फेनिल,
बहता है युग-युग से, अधीर !

कवियित्री जी का भाषा पर पूर्ण आधिपत्य है। भाषा को पूर्णतः परिष्कृत और परिमार्जित करने का प्रयत्न इन्होंने किया है। ऐसी मंजी हुई भाषा बहुत कम कवियों ने लिखी है। इनकी भाषा में क्लिष्टता और दुरूहता का अभाव सा है। कहीं-कहीं इन्होंने भी चित्रमयी भाषा लिखी है और बड़े सुंदर चित्र प्रस्तुत किए हैं। पंत जी की सी चित्रमयी भाषा लिखने में ये भी सफल रही हैं :—

"तारकमय नव वेणी बंधन,
शीश फूल कर शशि का नूतन,
रश्मिवलय सित घन-अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी !
पुलकती आ वसंत-रजनी !

मर्मर की सुमधुर नूपुर ध्वनि,
अलि-गुंजित पद्मों की किंकिणि,
भर पदगति में अलस तरंगिणि,
तरल रजत की धार बहा दे
मृदु स्मिति से सजनी !
विहँसती आ वसंत-रजनी !"

कवयित्री की भाषा में ध्वन्यात्मकता भी है और कहीं-कहीं शब्द झंकृति के सुंदर उदाहरण मिलते हैं। यद्यपि पंत के सदृश्य इनकी भाषा में लाक्षणिक प्रयोगों की बहुलता नहीं है परंतु कहीं-कहीं लाक्षणिकता का भी इनकी भाषा में समावेश हुआ है। इनकी भाषा अलंकार-पूर्ण है और उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा का सफल प्रयोग है।

इस प्रकार निस्संदेह इनकी भाषा उत्तम भाषा कही जा सकती है। यह अवश्य है कि छायावादी चमत्कृति का इनकी भाषा में अभाव सा है; कहीं-कहीं शुष्क और गद्य के से शब्द-प्रयोग हैं तथा व्याकरण की भी अशुद्धियाँ इनकी भाषा में हैं और कहीं-कहीं भाषा में कृत्रिमता भी झलक उठती है परंतु इन नगण्य दोषों के होते हुए भी इनकी भाषा प्रशंसनीय है। स्वाभाविक सरलता और सुंदर शब्द चयन पाठकों का मन मोह सा लेता है। भाषा की ऐसी सुमधुर स्रोतस्विनी अन्य कवियों की रचनाओं में बहुत कम प्रवाहित हो सकी है। अरबी, फारसी और उर्दू जैसे विदेशी शब्दों का भी प्रयोग इन्होंने नहीं किया है। इनका शब्द चयन मुक्ताहार के सदृश्य है और जैसी पच्चीकारी इनकी

गिर सकता।" इस प्रकार दुःखवाद का ही चित्रण उन्होंने किया है। वे कहती हैं :—

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात !
वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास ;
अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात !
जीवन विरह का जलजात ! "
आँसुओं का कोष उर, दृग अश्रु की टकसाल ;
तरल जल-कण से बने घन सा क्षणिक मृदु गात !
जीवन विरह का जलजात।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने प्रधानतः गीतिकाव्य को ही अपनाया है और इस प्रकार हिंदी गीति काव्य की वे प्रमुख कवियित्रियों में हैं। उनके गीतों में कारुण्य रसधारा ही प्रवाहित हो रही है और वेदना प्रधान गीत ही उनकी कृतियों में दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी कविताएँ प्रायः इतनी अधिक अन्तर्मुख हैं कि प्रकृति का प्रत्यक्ष प्रभाव उनपर कुछ नहीं पड़ता। प्रकृति भी उन्हें विरहाकुल और विरह को बढ़ानेवाली प्रतीत होती है। प्रारंभिक कृतियों में इनकी प्रेम साधना का आधार व्यक्ति तथा उसका अन्तःकरण ही रहा है। प्रियतम के अभाव में उनका मानस तिमिर पूर्ण ही है और विरहपूर्ण मानस के उद्गारों को उन्होंने अपनी कविताओं में प्रकट किया है। जैसा कि पंत जी ने लिखा है—

(वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान॥)

उनके गीतों में विरह का ही समावेश हुआ है। मर्मस्पर्शी भाव-व्यंजना ही उन्होंने व्यक्त की है। शनैः शनैः कवियित्री को प्रकृति के

अंग-अंग में वेदना देख पड़ने लगती है। वे अपनी पीड़ा से ही नहीं विश्वभर की पीड़ा से विकल हैं—

"मेरे हँसते अधर नहीं जग—
की आँसू - लड़ियाँ देखो !
मेरे गीले पलक छुओ मत
मुर्झाई कलियाँ देखो !"

भावनाओं की सुकुमारता और संगीत का तारतम्य सा उनके गीतों में पाया जाता है। विरह निवेदन में माधुर्य की भावना भी उन्होंने चित्रित की है। मधुर पीड़ा-भार और मानस की कसक का उन्होंने सुंदर चित्रण किया है—

"मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर !
सौरभ फैला विपुल धूप बन,"
मृदुल मोम - सा घुल रे मृदुतन !
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल-गल !

महादेवी वर्मा की कल्पना प्रशंसनीय है और कहीं-कहीं इन्होंने बड़ी सुंदर भाव-व्यंजना की है—

नयन की नीलम-तुला पर मोतियों से प्यार तोला।
कर रहा व्यापार कब से मृत्यु से यह प्राण भोला।

कहीं-कहीं इन्होंने प्रकृति के अगणित अनुपम चित्र प्रस्तुत किए हैं। यह अवश्य है कि इनमें प्रकृति-पर्यवेक्षण का अभाव सा है पर हाँ चिन्तन की प्रधानता है। एक कुशल चित्रकार होने के कारण कहीं-कहीं इन्होंने बड़ा सुंदर विभाव चित्रण किया है और इनकी इस भाव-मूर्ति-विधायनी-कला की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। इनका रहस्यवाद आध्यात्मिक ही है और सर्वत्र ही आत्म-भाव प्रधान गीत इनकी कृतियों

में दृष्टिगोचर होते हैं। इनका विरह असीम, अनन्त और अज के संयोग के हेतु होते हुए भी व्यक्तिगत ही है। यद्यपि चिरविरह और निराशा ही का चित्रण इन्होंने अपनी कृतियों में किया है पर प्रियतम का मिलन भी कहीं-कहीं इन्हें पुलकित कर देता है—

"तुम मुझमें प्रिय ! फिर परिचय क्या ?
रोम - रोम में नन्दन पुलकित,
साँस - साँस में जीवन शत - शत,
स्वप्न - स्वप्न में विश्व अपरिचित,
मुझमें नित बनते मिटते प्रिय ।
स्वर्ग मुझे क्या निष्क्रिय लय क्या ?

नारी-हृदय की करुणापूर्ण स्वाभाविक प्रेमाभिव्यक्ति से उनके गीतों में मर्मस्पर्शिता का समावेश सा हो गया है। विरह का जैसा सुन्दर बहुरूप और विवरण-पूर्ण चित्रण इन्होंने किया है वैसा खड़ी बोली के बहुत कम कवियों ने किया है। कहीं-कहीं दार्शनिकता का अधिकाधिक समावेश हो जाने के कारण दुर्बोधता भी देख पड़ती है, पर ऐसे स्थल बहुत कम हैं। आधुनिक हिन्दी गीति काव्य की ये मीरा ही हैं। यह अवश्य है कि मीरा के पदों में दिव्य प्रेम और विरह का चित्रण है तथा काव्य सौंदर्य भी इनसे अधिक निखरा हुआ है जब कि इनके गीतों में आध्यात्मिकता अधिक है परन्तु तो भी इनके गीतों में अनुभूति और भावना की बहुलता देख पड़ती है। मीरा की सी विरह कातर भावनाओं का चित्रण कहीं-कहीं इन्होंने भी किया है।

इस प्रकार महादेवी जी का काव्य वास्तव में प्रशंसनीय है तथा उनके गीत लोकप्रिय हैं और साहित्य की अक्षय निधि है।

हरिवंशराय 'बच्चन'

परिचय

'बच्चन' जी को 'हरिवंशराय' के नाम से बहुत ही कम लोग जानते होंगे। इनका वास्तविक नाम तो 'हरिवंशराय' है परन्तु इनकी माता इन्हें 'बच्चन' कहकर पुकारती थीं और आज इसी नाम से इन्हें प्रसिद्धि भी प्राप्त हुई है। इनका जन्म वि० सं० १९६४ (२७ नवम्बर १९०७) में प्रयाग में हुआ। इनके पिता का नाम बाबू प्रताप नारायण है। इनकी प्रारंभिक शिक्षा म्युनिसिपल स्कूलों में हुई। सन् १९२५ में, कायस्थ पाठशाला से हाई स्कूल, सन् १९२७ में गवर्नमेंट इंटर कालेज इंटरमीडियट और सन् १९२९ में प्रयाग विश्व विद्यालय से बी० ए० की परीक्षा पास की। इसी बीच सत्याग्रह आन्दोलन छिड़ने के कारण इन्होंने एम० ए० की पढ़ाई रोक दी। सन् १९२६ में इनका विवाह हो गय था पर नवम्बर १९३६ में इनकी पत्नी का देहावसान हो गया। सन् १९३७ में इन्होंने यूनिवर्सिटी में पुनः नाम लिखाया और एम० ए० तथा बी० टी० की परीक्षाएँ पास कीं।

बच्चन को बाल्य-काल से ही कविता की ओर रुचि रही है और विद्यार्थी जीवन में ही ये कविताएँ लिखने लगे थे। इनकी प्रारंभिक कृति 'तेरा हार' है परन्तु ये 'मधुशाला' से अत्याधिक प्रसिद्ध हो गए और हिन्दी कविता में, 'हालावाद' नामक एक नई धारा के प्रवर्तक कहे जाने लगे। मधुशाला के उपरांत 'मधुबाला' और 'मधुकलश' प्रकाश में आए तथा 'खैयाम की मधुशाला' भी परंतु हालावाद भी बच्चनजी से शनैः-शनैः दूर-सा हो गया और 'निशा निमंत्रण' में हालावाद

का प्रभाव नहीं देख पड़ता। 'सतरंगिनी' नामक इनकी एक नवीनतम कृति में बच्चन प्रगतिशील देख पड़ते हैं। 'आकुल अंतर' एकांत संगीत तथा मिलन यामिनी इनके अन्य कविता संग्रह हैं।

बच्चनजी सर्वाधिक लोकप्रिय कवियों में से हैं और कविता लिखने के अतिरिक्त इनकी कविता पढ़ने की विशेषता अधिक प्रशंसनीय है जिसके कारण कवि सम्मेलनों में जनता पर सबसे अधिक प्रभाव इनका ही पड़ता है। वास्तव में ये हिंदी काव्य के प्रसिद्ध कलाकार हैं।

भाषा

बच्चन की भाषा खड़ी बोली ही है। संस्कृत के तत्सम शब्दों की उसमें बहुलता नहीं है और प्रायः बोलचाल की भाषा को ही इन्होंने अपनाया है। बच्चन की भाषा सरल और स्वाभाविक है तथा उसमें प्रसाद गुण की बाहुल्यता है। क्लिष्ट और दुर्बोध पदावली इनकी भाषा में कहीं नहीं दृष्टिगोचर होती है। सुमधुर और लालित्य पूर्ण शब्दावली ही इनकी कविताओं में दृष्टिगोचर होती है। इनकी भाषा परिष्कृत और परिमार्जित ही है। भाषा-सौंदर्य का एक उदाहरण देखिए :—

संध्या सिंदूर लुटाती है।
रंगती स्वर्णिम रज से सुंदर
निज नीड़ अधीर खगों के पर,
तरुओं की डाली-डाली में कंचन के पात लगाती है।
करती सरिता का जल पीला
जो था पल भर पहले नीला,
नावों के पालों को सोने की चादर-सा चमकाती है।
उपहार हमें भी मिलता है,
श्रृंगार हमें भी मिलता है

आँसू की बूँद कपोलों पर शोणित की-सी बन जाती है।
सन्ध्या सिंदूर लुटाती है।

बच्चन ने मुहावरों का भी उपयोग किया है। बच्चन की भाषा में अरबी-फ़ारसी और उर्दू के शब्द भी मिलते हैं। विदेशी शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया हैं परंतु इससे उनके भाषा-सौंदर्य का ह्रास नहीं हुआ। इनका प्रवाहपूर्ण है और भावाभिव्यक्ति में भी सफल रही है।

कवित्व

यद्यपि बच्चन का नाम हालावाद के साथ जोड़-सा दिया गया है परंतु हालावाद को पीछे छोड़ अब वे बहुत आगे बढ़ चुके हैं और इस प्रकार उन्हें उन्नति के पथ पर बढ़नेवाला तीव्रगामी कवि कहा जा सकता है। बचनजी ने गीति काव्य को ही प्रधानतः अपनाया है और इस प्रकार उनकी कृवियों में गीतों की प्रचुरता-सी है। अपनी प्रारंभिक कृति 'तेरा हार' में उन्होंने अपनी नौराश्य भावना को चित्रित किया है। बच्चन जी वास्तव में विकाशवादी कवि हैं भी। विरह पूर्ण भावनाओं की बहुलता सी उनकी कृतियों में दृष्टिगोचर होती है। अपनी कविताओं में उन्होंने अपने जीवन के प्रति घोर असंतोप व्यक्त किया है—

मैं हृदय में अग्नि लेकर,
एक युग से जल रहा हूँ—

अपने 'आत्म परिचय' में भी उन्होंने अपने जीवन के असंतोष को और हृदय की कसक को प्रगट किया है—

मैं निज रोदन में राग लिये फिरता हूँ,
शीतल वाणी में आग लिये फिरता हूँ,
हों जिस पर भूपों के प्रासाद निछावर,
मैं वह खँडहर का भाग लिये फिरता हूँ।

+ + + + + +

है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिये फिरता हूँ।

बचन को प्रसिद्धि 'मधुशाला' से ही प्राप्त हुई। 'रुबाइयते उमर खय्याम' का इन्होंने 'खैय्याम की मधुशाला' के नाम से सफल अनुवाद किया और जिससे प्रभावित होकर इन्होंने अपनी भावना को व्यक्त करने के हेतु प्याला, मधुशाला, मदिरा और साकी को प्रतीक मान लिया। 'मधुशाला' में वे लिखते हैं—

भावुकता अंगूर लता से,
खींच कल्पना की हाला।
कवि बनकर है साक़ी आया,
भरकर कविता का प्याला॥
कभी न क्षण भर खाली होगा,
लाख पिये दो लाख पिये।
पाठक गण हैं पीने वाले,
पुस्तक मेरी मधुशाला॥

'मधुशाला' 'मधुबाला' और 'मधुकलश' इस प्रकार हालावाद की श्रेणी के अन्तर्गत ही है। बचन जी की इन कृतियों पर आलोचकों ने आरोप भी बहुत से लगाये और उन्हें पथभ्रष्ट कवि तथा वासना का अनुगामी कहा। परन्तु बचन की इन कृतियों में भावावेश की तीव्रता है और युग तथा समाज की पीड़ा का उन्होंने यथार्थ चित्रण किया है। मधुशाला और जीवन को तुलना करते समय कवि ने कहीं-कहीं बड़ी उत्कृष्ट भाव-व्यंजना की है। मानव जीवन के चरम-लक्ष्य का कवि ने चित्रण किया है और जीवन के सुख-दुख, आशा-निराशा और प्रेम-द्वेष का ही कलापूर्ण अंकन किया है।—

मदिरालय जाने को घर से,
चलता है पीने वाला।

किस पथ से जाऊँ ? असमंजस,
में है वह भोला - भाला ॥
अलग - अलग पथ बतलाते सब,
पर मैं यह बतलाता हूँ—
राह पकड़ तू एक चलाचल,
पा जायेगा मधुशाला ॥

'निशा निमंत्रण' 'एकांत संगीत' में बच्चन की प्रतिभा विकसित सी हो गई है। निराशा की भावना इन गीतों में दुःसह रूप में प्रकट हुई है। भावों की गंभीरता और मानस की तीव्रतम वेदना को इन गीतों में व्यक्त किया गया है। बच्चन ने अपने विदग्ध अंतर्जगत की भावनाओं को इन गीतों में मूर्तिमान रूप दिया है। प्रकृति के आनंददायक चित्र उन्हें विषादमय प्रतीत होते हैं। आत्मक्रन्दन की भावना को उन्होंने मर्मस्पर्शी ढंग में चित्रित किया है। जैसा कि श्रीमती महादेवी वर्मा ने लिखा है—"गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें संदेह नहीं।" बच्चन के गीतों में अंतर्जगत का वास्तविक चित्रण है। मध्य विभावरी में विहंगों की मधुर कूजन से कवि को कितनी अधिक वेदना हो उठती है :—

ध्वनित धरातल और गगन है,
राग नहीं है यह क्रंदन है,
टूटे प्यारी नींद किसी की, इसने कंठ करुण निज खोला !
मध्य निशा में पंछी बोला !

बच्चनजी यथार्थवादी कवि हैं। युग की यथार्थ भावनाओं का मर्मस्पर्शी अंकन उन्होंने किया है, सांसारिक व्यवहारों में असफलता प्राप्त होने के कारण अब इस विश्व से उनका विश्वास सा उठ गया है। उनका व्यक्तित्व विद्रोह की प्रतिमूर्ति है और उनकी कविताओं में विद्रोह की भावना चित्रित भी की गई है। 'आकुल अंतर' में कवि ने

रामधारीसिंह 'दिनकर'

परिचय

श्री रामधारीसिंह अपने वास्तविक नाम की अपेक्षा 'दिनकर' उपनाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म सं० १९६५ वि० में गंगा किनारे सिमिरिया गाँव, (जिला मुँगेर, बिहार) में हुआ। दिनकरजी को हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत, बँगला और उर्दू का भी अच्छा ज्ञान है तथा सन् १९३२ में इन्होंने पटना यूनिवर्सिटी से इतिहास विषय में बी० ए० आनर्स की परीक्षा पास की।

कविता की ओर इनकी बचपन से ही रुचि थी। मिडिल परीक्षा पास करने के उपरांत ही ये गीत लिखने लगे थे। दिनकर जी की प्रबंध काव्य की ओर विशेष रुचि रही है और स्फुट गीत भी इन्होंने लिखे हैं। रेणुका, हुंकार, रसवंती और द्वंदगीत इनके कविता संग्रह हैं तथा 'कुरुक्षेत्र' इनका प्रसिद्ध महाकाव्य है। दिनकर जी की लोकप्रियता का यह एक सुंदर प्रमाण है कि उनकी 'हिमालय' और 'नई दिल्ली' नामक कविताओं का अनुवाद गुजराती भाषा में गुजराती के प्रसिद्ध कवि मेघाणी जी ने किया है।

भाषा

दिनकर की भाषा खड़ी बोली ही है। दिनकर की भाषा सरल है और मधुरता का भी उसमें समावेश है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी दिनकर ने उपयोग किया है और कहीं-कहीं उर्दू शब्दों को भी अपनाया है परंतु इससे भाषा सौष्ठव का ह्रास नहीं हुआ है। दिनकर ने खड़ी बोली के साधारण और स्वाभाविक रूप को प्रस्तुत किया है

तथा पच्चीकारी कर उन्हें परिमार्जित करने का प्रयत्न नहीं किया। साधारण शब्दावली भी भावों की गंभीरता को व्यक्त करने में समर्थ रही है।)

(यद्यपि दिनकर की भाषा में प्रसाद गुण की ही अधिकता है पर प्रसंगानुसार ओज का भी आविर्भाव हुआ है। ओजपूर्ण शब्दावली इनकी कृतियों में अधिकतर देख पड़ती है। कविताओं के पौरुष प्रधान होने से ओज का आना आवश्यकीय भी था। 'दिनकर' सरल से सरल शब्दों में भी ओज लाने में पूर्ण सफल रहे हैं। भाषा में प्रवाह है और मृदुता भी है। भाषा-सौंदर्य का एक उदाहरण देखिए :—)

जिसके द्वारों पर खड़े क्रांत
सीमापति तूने की पुकार।
'पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार'।

उस पुण्य भूमि पर आज तपी
रे! आन पड़ा संकट कराल;
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे,
डस रहे चतुर्दिक् विविध व्याल।
मेरे नगपति! मेरे विशाल!

काव्य-सौंदर्य

(दिनकर क्रान्तिदर्शी कवि हैं और उनकी कविता में देश-व्यापी जागरण का स्वर है। यद्यपि युग-धर्म से प्रभावित हो इनकी कविता में भी आत्माभिव्यक्ति और गीतों की प्रधानता है परंतु दिनकर ने अपने देश, समाज और संस्कृति की ओर भी दृष्टि की है तथा वर्तमान भारत की दुरावस्था का यथार्थ चित्रण किया है और इस प्रकार उनकी कविताओं में हृदयस्पर्शी भावों की ही अभिव्यंजना है।)

(दिनकर की प्रारंभिक कविताओं में प्रकृति के प्रति आकर्षण व्यक्त किया गया है और अतृप्ति तथा आत्म-क्रंदन का भी चित्रण किया गया है :—)

व्योम-कुंज की सखी, अयि कल्पने!
आ उतर, हँसले जरा वनफूल में।

(दिनकर का अतीत के इतिहास पर अत्याधि अनुराग रहा है और वर्तमान दुरावस्था के प्रति असंतोप होने से प्रकृति-सौंदर्य का चित्रण उन्होंने छायावादी शैली पर नहीं किया। 'कोयल' निर्झरिणी' 'मिथिला में शरत्' 'वसंत के नाम पर' आदि कविताओं में प्रकृति-सौंदर्य का अंकन किया गया है परंतु उसमें नूतनता भी है। 'पाटलिपुत्र की गंगा से' नामक कविता में प्रकृति वर्णन के साथ-साथ अतील के प्रति अनुराग भी प्रदर्शित किया गया है :— /

मुझे याद है? चढ़े पदों पर
कितने जय-सुमनों के हार
कितनी बार समुद्रगुप्त ने
धोई है तुझमें तलवार?

तेरे तीरों पर दिग्विजयी
नृप के कितने उड़े निशान
कितने चक्रवर्तियों ने हैं
किये कूल पर अवभृथ-स्नान।

(दिनकर की कविताओं में नालंद, वैशाली, पाटलिपुत्र तथा हस्तिनापुर आदि के प्रति आकर्षण व्यक्त किया गया है। 'हिमालय के प्रति' नामक कविता में उन्होंने हिमालय के प्रति अपनत्व प्रदर्शित किया है। कवि क्रांति चाहता है और परिवर्तन की कामना करता है :— /

क्रांति धात्रि कविते ! जागो उठ
आडम्बर में आग लगा दे।
पतन, पाप, पाखंड जलें,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे ॥

दिनकर ने दलित दुखियों के प्रति सहानुभूति भी प्रदर्शित की है। दलितवर्ग के दुःखों को देखकर उनका हृदय विचलित हो उठा है :—

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा-वसन बेंच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल-फुलेलों पर, पानी-सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमन्त्रण।

'रसवंती नामक अपनी कृति में भी उन्होंने भारत के दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति दिखाई है और कवि की आत्मा देश के क्षुधित बच्चों के हेतु दूध खोजने के लिये स्वर्ग तक को चेतावनी दे सकती है :—

हटो पंथ से मेघ, तुम्हारा स्वर्ग लूटने हम जाते हैं।
वत्स-वत्स ओ वत्स, तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

इस प्रकार दिनकर राष्ट्रीय कवि हैं तथा उनकी कविताओं में स्वदेश की मुक्ति का क्रंदन है और वे इस प्रकार का परिवर्तन चाहते हैं कि आज का यह बुभुक्षित और आवरण हीन भारत फिर से अपने अतीत के सदृश्य समृद्ध हो सके। दिनकर में प्रतिभा है और उनके भावों में गंभीरता है तथा विचारों में दृढ़ता। अतएव उनकी काव्य कला निस्संदेह प्रशंसनीय है।

समाप्त